रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

★ १९७६ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक
ब्रह्मचारी चिन्मयचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क– १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

फोन : ४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय—स्वामी विवेकानन्द
(बोसपारा, कलकत्ता में, फरवरी १९०१ ई०)

मुद्रण स्थल : **नरकेसरी प्रेस**, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(३४ वीं तालिका)

१०५७. श्री के. एस. परिहार, तखतपुर।
१०५८. श्री लखनलाल चन्द्रवंशी, रूसे (मुंगेली)।
१०५९. श्री लालमन चन्द्रवंशी, मोहतरा (मुंगेली)।
१०६०. श्री चरणराम चंद्रवंशी, भगतपुर (मुंगेली)।
१०६१. ठाकुर अमरसिंह परिहार, पथर्रा (कवर्धा)।
१०६२. श्री अक्षय कुमार पाण्डेय, कोलेगाँव (मुंगेली)।
१०६३. श्री पीताम्बर राम, घनेली (मुंगेली)।
१०६४. श्री डोमराराम चन्द्रवंशी, मोहतरा (मुंगेली)।
१०६५. श्री ग्यानिक लाल, रापा (मुंगेली)।
१०६६. श्री झाडूराम शर्मा, कोलेगाँव (मुंगेली)।
१०६७. श्री धनुषलाल शर्मा, बहरपुरबाड़ा (मुंगेली)।
१०६८. श्री आर. पी. भल्ला, भिलाईनगर।
१०६९. श्रीमती जानकीबाई बोंद्रे, चिखली (बुलढाना)।

•

संग्रहणीय पुस्तकें

स्वामी आत्मानन्द द्वारा अनुवादित

१. **धर्म, समाजवाद और सेवा--** मूल्य ६० पैसा
(श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज, अध्यक्ष, रामकृष्ण संघ, द्वारा प्रदत्त दो व्याख्यानों का संग्रह)

२. **मन और उसका निग्रह--** मूल्य २)५०
लेखक--स्वामी बुधानन्द
(साधना पर व्यावहारिक निर्देश)

३. **स्वामी विवेकानन्द (संक्षिप्त जीवनी)--** मूल्य २)५०
लेखक--स्वामी तेजसानन्द

४. **श्रीरामकृष्ण की कहानियाँ--** मूल्य ४)५०
(सुललित सुन्दर चित्रों से युक्त, बच्चों के लिए प्रेरणास्पद कहानियाँ)

ब्रह्मचारी चिन्मय चैतन्य द्वारा अनुवादित

१. **श्री रामकृष्ण (संक्षिप्त जीवनी)--** मूल्य २)५०
लेखक--स्वामी तेजसानन्द

२. **बच्चों के श्रीरामकृष्ण--** मूल्य २)५०
लेखक--स्वामी विश्वाश्रयानन्द
(प्रत्येक पृष्ठ पर सुन्दर, सुललित चित्र से युक्त, बच्चों के लिए प्रेरणास्पद जीवनी)

डाकखर्च अलग

प्राप्तिस्थान : **रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)**

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १४] जुलाई - अगस्त - सितम्बर १९७६ ★ [अंक ३

ब्रह्मज्ञानी के लिए प्रारब्ध अर्थहीन

उपाधितादात्म्यविहीनकेवल-
ब्रह्मात्मनैवात्मनि तिष्ठतो मुनेः ।
प्रारब्धसद्भावकथा न युक्ता
स्वप्नार्थसम्बन्धकथेव जाग्रतः ।।

—जो मुनि संसार के औपाधिक सम्बन्धों को छोड़कर ब्रह्मात्मभाव से अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है, उसके लिए प्रारब्ध की बात वैसे ही अर्थहीन है जैसा कि स्वप्न से जागे हुए व्यक्ति का सपने में देखे गये पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध।

—विवेकचूड़ामणि, ४५४

समः शत्रौ च मित्रे च

एक स्थान पर साधुओं का मठ था। वहाँ रहनेवाले साधु मधुकरी के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह किया करते। एक दिन उनमें से एक महात्मा जब भिक्षा के लिए जा रहे थे, तो उन्होंने देखा कि कोई जमींदार एक आदमी को निर्ममता से पीट रहा है। साधु का हृदय आर्द्र हो उठा। वे जमींदार को समझाने लगे। पर वहाँ भला कौन सुननेवाला था? जब साधु ने देखा कि उनकी बातों का कोई भी असर जमींदार पर नहीं हुआ, तो वे बीच-बचाव करने के लिए दोनों के बीच कूद पड़े। उनकी इस क्रिया ने जमींदार की क्रोधाग्नि में घी का काम किया। वह और भी भड़क उठा और साधु पर ही पिल पड़ा और उन्हें तब तक पीटता रहा, जब तक कि वे बेहोश होकर धरती पर न गिर पड़े।

मठ में खबर पहुँची कि एक महात्मा रास्ते पर बेसुध पड़े हैं। सुनते ही अन्य महात्मा दौड़े आये और देखा कि उनका गुरुभाई बेहोश पड़ा हुआ है। उन सबने मिलकर उन्हें उठाया और मठ में ले गये। वहाँ उन्हें बिस्तर पर सुला दिया गया। वे तब भी अचेत थे। सभी साधु उन्हें चारों ओर से घेरकर उदास बैठे थे। कोई पंखा झल रहा था, तो कोई उनके मुँह पर पानी के छींटे मार रहा था। पर महात्मा की बेहोशी दूर होने का नाम न लेती थी। किसी ने सुझाया कि थोड़ा सा गरम गरम दूध पिला देने से उपकार हो सकता है। गुनगुना दूध जब

अचेत महात्मा के मुँह में डाला जाने लगा, तो उनकी बेहोशी दूर होने लगी। उन्होंने आँखें खोलीं और चारों ओर देखने लगे। महात्माओं के जी में जी आया। उनमें से एक ने कहा, "जरा देखें, इनकी बेहोशी पूरी तरह से दूर हुई है या नहीं और ये हमें पहचान पा रहे हैं या नहीं।" उन्होंने बेहोश साधु के कानों में चिल्लाकर पूछा, "महाराज! क्या आप बता सकते हैं कि आपको दूध कौन पिला रहा है?" उन्होंने क्षीण स्वर में उत्तर देते हुए कहा, "भाई! जिसने मुझे पीटा, वही इस समय मुझे दूध पिला रहा है!"

•

प्याज का छिलका छुड़ाते छुड़ाते अन्त में कुछ शेष नहीं रह जाता, वैसे ही 'न इति' 'न इति' कहकर संसार को ब्रह्म से पृथक् करने से ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता। तात्पर्य यह है, यह दृश्यमान जगत् कुछ भी नहीं है। केवल ब्रह्म ही सत्य है।

——श्रीरामकृष्ण

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

अमेरिका,
६ मई, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

आज सबेरे मुझे तुम्हारा पिछला पत्र और रामानुजाचार्य-भाष्य का पहला खण्ड मिला। कुछ दिनों पहले मुझे तुम्हारा दूसरा पत्र भी मिला था। श्री मणि अय्यर का पत्र भी मुझे मिल गया। मैं ठीक हूँ और उसी पुरानी रफ्तार से सब कुछ चल रहा है।...

यहाँ पर जनता में इस विषय में किसी प्रकार की चर्चा नहीं है, जिससे आत्मपक्षसमर्थन करना पड़े। क्योंकि ऐसा होने से यहाँ प्रतिदिन मुझे सैकड़ों लोगों से जूझना पड़ेगा। क्योंकि अब यहाँ भारत की धूम मच गयी है, और डा० बरोज के साथ साथ कट्टर ईसाई और बाकी लोग इस आग को बुझाने में बेहद प्रयत्नशील हैं। दूसरी बात, भारत के विरुद्ध इन सभी कट्टर ईसाइयों के व्याख्यानों में यह नियम सा हो गया है कि मुझे लक्ष्य बनाकर खूब गाली-गलौज होनी चाहिए। कट्टर ईसाई नर-नारी मेरे विरुद्ध जो गन्दी अफवाहें फैला रहे हैं, उन्हें थोड़ा भी सुनो, तो आश्चर्यचकित रह जाओ। अब, क्या तुम कहना चाहते हो कि इन स्वार्थी नर-नारियों के कायरतापूर्ण और पाशविक आक्रमणों के विरुद्ध एक संन्यासी को

निरन्तर आत्मसमर्थन करना पड़ेगा? यहाँ मेरे कई एक बहुत प्रभावशाली मित्र हैं, जो बीच बीच में उनको करारा जवाब देकर बैठा देते हैं। फिर यदि हिन्दू सब निद्रित अवस्था में रहेंगे, तो मैं हिन्दू धर्म का समर्थन करने में अपनी शक्ति क्यों क्षीण करूँ? तुम तीस करोड़ आदमी वहाँ क्या कर रहे हो? विशेषत: वे, जिन्हें अपनी विद्वत्ता का अभिमान है? तुम क्यों नहीं इस संग्राम का भार अपने कन्धों पर लेते और मुझे केवल शिक्षा और प्रचार करने का अवकाश देते? मैं अजनबी लोगों में रातोंदिन संघर्ष कर रहा हूँ. . .भारत से मुझे क्या सहायता मिलती है? कभी संसार मे कोई ऐसा देशभक्तिहीन राष्ट्र देखा है, जैसा कि भारत है? अगर तुम यूरोप और अमेरिका में उपदेश देने के लिए बारह सुशिक्षित दृढ़चेता मनुष्यों को यहाँ भेज सको, और कुछ साल तक उन्हें यहाँ रख सको, तो इस भाँति राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से, दोनों तरह मे भारत की अपरिमित सेवा हो जाय। प्रत्येक मनुष्य जो नैतिक दृष्टि से भारत के प्रति सहानुभूतिशील है, वह राजनीतिक विषयों मे भी उसका मित्र बन जाता है। बहुत से पश्चिमी राष्ट्र तुम्हें अर्धनग्न, बर्बर समझते हैं। इसलिए वे तुम्हें कोड़े के बल पर सभ्य बनाना उचित समझते हैं। यदि तुम तीस करोड़ लोग मिशनरी लोगों की धमकियों में आ गये, तो तुम सब कायर हो और कुछ भी कहने के अधिकारी नहीं हो। दूर देश में एक आदमी अकेला क्या कर सकता है? जो

मैंने किया भी है, उसके योग्य भी तुम नहीं हो।

अमेरिकन पत्रिकाओं में अपने पक्ष-समर्थन सम्बन्धी लेख तुम क्यों नहीं भेजते ? तुम्हें क्या बाधा है ? तुम कायरों की जाति हो——शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक रूप से। तुम लोग पशुतुल्य हो, जिसके सामने बस दो ही बातें हैं--काम और कांचन। तुम्हारे साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए। तुम 'साहब लोगों' से, यहाँ तक कि मिशनरियों से भी डरते हो। और एक संन्यासी को जीवन भर लड़ाई में रत, हमेशा रत रहने देना चाहते हो। और तुम लोग बड़े काम करोगे, छिः! क्यों नहीं तुममें से कुछ लोग एक सुन्दर हिन्दू धर्म-समर्थनयुक्त लेख लिखते और बोस्टन की 'एरेना पब्लिशिंग कम्पनी' को भेजते ? 'एरेना' एक ऐसा पत्र है, जो खुशी से उसे प्रकाशित करेगा और शायद काफी पैसा भी दे। इत्यलम्। इस पर सोचो। तुम लोग तो अहमक की तरह मिशनरियों से प्रलोभित होते हो ! अब तक जितने हिन्दू पश्चिमी देशों में गये हैं उन्होंने प्रशंसा या धन के लोभ में अधिकतर अपने धर्म और देश का छिद्रान्वेषण ही किया है। तुम जानते हो कि नाम और यश ढूँढ़ने मैं नहीं आया था। वह मुझ पर लादा गया है। मैं क्यों भारत में लौटकर जाऊँ ? मेरी वहाँ कौन सहायता करेगा ? तुम लोग बच्चे हो, तुम लोग लड़कपन करते हो, कुछ जानते-बूझते नहीं। मद्रास में वे मनुष्य कहाँ हैं, जो धर्म का प्रचार करने के लिए संसार त्याग देंगे ? सांसारिकता तथा

ईश्वर का साक्षात्कार साथ साथ सम्भव नहीं। मैं ही एक व्यक्ति हूँ, जिसने अपने देश के पक्ष मे बोलने का साहस किया है, और मैंने उन्हें ऐसे विचार प्रदान किये हैं, जिसकी आशा हिन्दुओं से वे स्वप्न में भी न रखते थे। यहाँ पर बहुत से मेरे विरोधी हैं, किन्तु मैं तुम लोगों की तरह कायर कभी भी नही हूँगा। इस देश में हजारों मेरे मित्र भी हैं और सैकड़ों मेरा आमरण अनुसरण करेंगे। प्रतिवर्ष वे बढ़ते जायँगे, और यदि मैं उनके साथ रहकर काम करता रहा, तो मेरे जीवन का ध्येय और धर्म का मेरा आदर्श पूरा होगा। यह तुम समझते हो ?

अमेरिका में जो सार्वजनीन मन्दिर (Temple Universal) बननेवाला था, उसके विषय में मैं अब बहुत नहीं सुनता; परन्तु फिर भी न्यूयार्क में, जो अमेरिकन जीवन का केन्द्र है, मैंने सुदृढ़ जड़ पकड़ ली है, और इसलिए मेरा काम चलता रहेगा। मैं अपने कुछ शिष्यों को ग्रीष्म काल के निमित्त बने हुए एक एकान्त स्थान में ले जा रहा हूँ। वहाँ योग, भक्ति और ज्ञान में उनकी शिक्षा समाप्त होगी और फिर वे काम करने में सहायता कर सकेंगे।

खैर, जो भी हो, मेरे बच्चो, मैंने तुम लोगों को बहुत डाँटा है; डाँटने की आवश्यकता भी थी। मेरे बच्चो, अब काम करो। एक माह के भीतर मैं पत्रिका के लिए कुछ धन भेज सकूँगा। हिन्दू भिखारियों से भिक्षा मत माँगो। मैं अपने मस्तिष्क और बाहुबल द्वारा ही स्वयं

सब करूँगा। मैं किसी मनुष्य से सहायता नहीं चाहता, चाहे वह यहाँ हो, या भारत में . . .। श्रीरामकृष्ण को अवतार मानने के लिए लोगों पर जोर न दो।

अब मैं तुम्हें अपने एक नूतन आविष्कार के विषय में बतलाऊँगा। समग्र धर्म वेदान्त में ही है अर्थात् वेदान्त दर्शन के द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत, इन तीन स्तरों या भूमिकाओं में है। ये एक के बाद एक आते हैं तथा मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति की क्रम से ये तीन भूमिकाएँ हैं। प्रत्येक भूमिका आवश्यक है। यही सार-रूप से धर्म है। भारत के नाना प्रकार के जातीय आचार-व्यवहारों और धर्ममतों में वेदान्त के प्रयोग का नाम है 'हिन्दू धर्म'। यूरोप की जातियों के विचारों में उसकी पहली भूमिका--द्वैत--का प्रयोग है ईसाई धर्म'। सेमिटिक (semetic) जातियों में उसका ही प्रयोग है 'इस्लाम धर्म'। अद्वैतवाद ही अपनी योगानुभूति के आकार में हुआ 'बौद्ध धर्म'--इत्यादि, इत्यादि। धर्म का अर्थ है वेदान्त; उसका प्रयोग विभिन्न राष्ट्रों के विभिन्न प्रयोजन, परिवेश एवं अन्यान्य अवस्थाओं के अनुसार विभिन्न रूपों में बदलता ही रहेगा। मूल दार्शनिक तत्त्व एक होने पर भी तुम देखोगे कि शैव, शाक्त आदि हर एक ने अपने अपने विशेष धर्ममत और अनुष्ठान-पद्धति में उसे रूपान्तरित कर लिया है। अब अपनी पत्रिका में तुम इन तीन प्रणालियों पर अनेक लेख लिखो, जिनमें उसका सामंजस्य दिखाओ कि ये अवस्थाएँ कैसे एक के बाद एक क्रमानुसार

आती हैं। साथ ही धर्म के आनुष्ठानिक अंग को बिलकुल दूर रखो; अर्थात् दार्शनिक एवं आध्यात्मिक भाव का प्रचार करो और लोगों को अपने अपने अनुष्ठानों एवं क्रिया-कल्पादि में उसका प्रयोग करने दो। मैं इस विषय पर पुस्तक लिखना चाहता हूँ; इसलिए मैं तीनों भाष्य चाहता था। परन्तु अभी तक रामानुज-भाष्य का एक ही भाग मुझे मिला है!

अमेरिकी थियोसॉफिस्ट दूसरों से अलग हो गये हैं और अब वे भारत से नफरत करते हैं। टुच्ची बात! और इंग्लैण्ड के स्टर्डी ने, जो हाल में भारत गया था और मेरे भाई शिवानन्द से मिला था, मुझे एक पत्र लिखा है, जिसमें वह जानना चाहता है कि मैं कब इंग्लैण्ड जा रहा हूँ। मैंने उसे एक अच्छी चिट्ठी लिखी है। बाबू अक्षय कुमार घोष के क्या हाल हैं? मैंने उनके विषय में और कुछ नहीं सुना। मिशनरी लोगों और दूसरों को उनका प्राप्य दे दो। हममें से कुछ बहुत मजबूत लोग उठें और भारत के वर्तमान धार्मिक पुनर्जागरण पर अच्छे ढंग से, एक सुन्दर और जोरदार लेख लिखें तथा कुछ अमेरिकी पत्रों में उसे भेजें। मैं उनमें से केवल एक या दो से अवगत हूँ। तुम तो जानते हो कि मैं कुछ विशेष लेखक नहीं हूँ। मुझे द्वार द्वार भीख माँगने का अभ्यास नहीं है। मैं चुपचाप बैठता हूँ और अपने आप जिस चीज को आना हो, आने देता हूँ।...मेरे बच्चो, यदि मैं संसारी, पाखण्डी होता, तो यहाँ पर एक बड़ा संघ स्थापित करने

में बड़ी भारी सफलता प्राप्त करता ! हाय ! यहाँ इतने ही में धर्म है; धन और उसके साथ नाम-यश की लालसा— यही है पुरोहितों का दल; और धन के साथ काम का योग होने से होता है साधारण गृहस्थों का दल । मैं यहाँ मनुष्यजाति में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करूँगा, जो ईश्वर में अन्तःकरण से विश्वास करेगा और संसार की परवाह नहीं करेगा । यह कार्य मन्द, अति मन्द, गति से होगा । उस समय तक तुम अपना काम करो और मैं अपनी नौका को सीधा चलाकर ले जाऊँगा । पत्रिका को बक-वादी न होना चाहिए; परन्तु शान्त, स्थिर और उच्च आदर्शयुक्त । . . . उत्तम और नियमित रूप से लिखने वाले लेखकों का दल ढूँढ़ लो । . . .पूर्णतः निःस्वार्थ हो, स्थिर रहो और काम करो । हम बड़े बड़े काम करेंगे, डरो मत । . . . एक बात और है । सबके सेवक बनो और दूसरों पर शासन करने का तनिक भी यत्न न करो; क्योंकि इससे ईर्ष्या उत्पन्न होगी और हर चीज बर्बाद हो जायगी । . . . आगे बढ़ो । तुमने बहुत अच्छा काम किया है । हम अपने भीतर से ही सहायता लेंगे——अन्य सहायता के लिए हम प्रतीक्षा नहीं करते । मेरे बच्चे, आत्मविश्वास रखो, सच्चे और सहनशील बनो । मेरे दूसरे मित्रों के विरुद्ध मत जाओ । सबसे मिलकर रहो । सबको मेरा असीम प्यार ।

आशीर्वादपूर्वक सदैव तुम्हारा,
विवेकानन्द

श्री माँ सारदा देवी के सस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांग से आगे)

श्री माँ में स्नेह-वात्सल्य और मातृभाव का विशेष विकास उनके दक्षिणेश्वर में रहते हुए ही हुआ था। हृदय श्री ठाकुर की सेवा करते थे। दैवयोग से उन्हें दक्षिणेश्वर छोड़कर चले जाना पड़ा। उसके बाद से ही श्री ठाकुर की देखभाल का भार साक्षात् मानो माँ काली ने ही श्री माँ के रूप में ले लिया। ठाकुर तब सदैव ऊँची भावावस्था में रहते। श्री माँ उनके अनुकूल भोजन स्वयं अपनें हाथों से पकातीं और उन्हें खिलातीं। नौबतखाने के उस छोटे से कमरे में ही उनका वासस्थान भी था। उनका सारा दिन और सारी रात उसी कमरे में बीतती। धीरे धीरे जब ठाकुर के पास स्त्री और युवक-भक्त आने लगे, तो श्री माँ को केवल ठाकुर के ही नहीं बल्कि इन भक्तों में से अनेकों के भोजन की भी व्यवस्था करनी पड़ती। वे तब उन सबकी भी माँ थीं। कभी कभी युवक-भक्तों को कोई विशेष चीज खानी होती, अथवा वे कोई प्रिय चीज अधिक मात्रा में खा लेते, तो ठाकुर यदि उस सम्बन्ध में माँ से कुछ कहते, तो उन्हें मातृहृदय के उद्गार सुन चुप वापस लौट जाना पड़ता था।

तभी से वे श्रीरामकृष्ण-सन्तानों की माँ थीं। ठाकुर जब गले की चिकित्सा के लिए श्यामपुकुर और बाद में काशीपुर में थे, उस समय श्रीरामकृष्ण-सन्तानों ने

अधिक तीव्रता के साथ उन्हें माँ के रूप में पाया था। श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के पश्चात् वे संघजननी हो गयीं। देखा गया कि परिव्राजक स्वामी ब्रह्मानन्दजी माँ के लिए व्यग्र हो रहे हैं; स्वामी विवेकानन्द वराह-नगर मठ से अन्तिम बार परिव्राजक के रूप में निकलने के समय श्री माँ से आशीर्वाद की याचना कर रहे हैं और अमेरिका जाने के पहले अनुमति माँग रहे हैं। विश्वविजयी होकर जब स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे, तो जिस दिन वे श्री माँ के चरणों में प्रणाम करने के लिए गये, बात उसी समय की है। छोटी मामी के मुँह से वह सुनी है। "चेहरा राजा के समान था, ननद के पैरों पर लम्बा पड़ गया; हाथ जोड़कर बोला, 'माँ, साहब के लड़के को घोड़ा बनाया है, तुम्हारी कृपा से'!" छोटा सा बच्चा यदि कोई इच्छित वस्तु पा ले, तो वह माँ को दिखाने के लिए छूट पड़ता है। माँ यदि उसे अच्छा कह दे, तो उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती। स्वामी विवेकानन्द नें जब पश्चिम से लाये अपने श्रेष्ठ रत्न को-- अपनी मानसकन्या भगिनी निवेदिता को-- माँ के चरणों में उपहारस्वरूप प्रदान किया, तो माँ ने उसे अत्यन्त स्नेहपूर्वक स्वीकार किया, उसे बड़ा प्यार किया, अपने समीप रखा। स्वामीजी के हर्ष का ठिकाना न रहा। उस समय के कट्टर हिन्दू समाज के बीच रहनेवाली, सब बातों को मानकर चलनेवाली, सबको सभी प्रकार से सन्तोष देने के प्रयत्न में रत

रहनेवाली और किसी के मन को किसी भी प्रकार की पीड़ा देने में अनिच्छुक श्री माँ के लिए निवेदिता को अपने घर में स्थान देकर सामाजिक प्रथा के पूरी तरह विरोध में आचरण करना कैसे सम्भव हुआ, यह सोचकर आश्चर्य से अभिभूत हो जाना पड़ता है। परम विदुषी, महामनस्विनी, पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता में पली, आधुनिक जगत् के सभी विषयों पर अधिकार रखनेवाली मिस नोबल गाँव के वातावरण में पली इस अनपढ़ सरल नारी के स्नेहपाश में कैसे बँध गयीं और उनसे प्रभावित हो उन्हें देवी समझते हुए उनमें किस प्रकार भक्ति-विश्वास करते हुए उनके प्रति अपने को समर्पित कर दिया, यह उन्होंने स्वयं अपनी लेखनी से लिखा है। और माँ का भी अपनी इस पर भक्तिमती कन्या 'लल्ली' के प्रति कैसा खिचाव था, वह उन्होंने स्वयं ही व्यक्त किया है। हमें भी उसका थोड़ा-बहुत अंश देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। भगिनी निवेदिता के समान और भी वहुत से विदेशी नर-नारियों को पुत्र और कन्या की भाँति माँ की स्नेहमयी गोद में स्थान पाने का और माता के स्नेह का आस्वादन करते हुए चिर शान्ति और परमानन्द के अधिकारी होने का सौभाग्य मिला था। उनमें से कई लोगों ने स्वयं लीलामयी की उस अपूर्व लीला की बात लोगों को बतलायी थी।

स्वामी विवेकानन्द बेलुड़ मठ की प्रतिष्ठा करने के उपरान्त वहाँ सर्वअभीष्टदायिनी माँ-दुर्गा की पूजा करने

का विचार करते हैं। पर सबसे पहले वे माँ सारदा से अनुमति लेते हैं। इन सब भवनों, मठ और आश्रम की वे ही तो स्वामिनी हैं। अतः उन्हीं के नाम दुर्गापूजा का संकल्प होता है। माँ स्वयं पुजारी और तन्त्रधारक को यथोचित दक्षिणा दे सन्तोष प्रदान करती हैं और इस प्रकार पूजा और यज्ञ का कार्य पूर्ण करती हैं। हृदय से आकुल प्रार्थना करती हैं, 'माँ-दुर्गा की कृपा से बच्चों का सब प्रकार से कल्याण हो, वे सुखी हों और शान्ति पाएँ।" 'जीवित' दुर्गा के शरणागत हो, उनकी स्नेहमयी मोक्षदात्री मूर्ति के चरणों का आश्रय ले स्वामीजी मठ में उन्हीं की अभ्युदय प्रदान करनेवाली मूर्ति--दशभुजा दुर्गा की—पूजा प्रवर्तित करते हैं।

इस दुर्गापूजा के प्रसंग में माँ की और एक शुभ प्रेरणा की बात स्मरण हो आती है। दुर्गापूजा में बलि का विधान है। बंगाल में इस अवसर पर बकरे की वलि का विशेष प्रचलन है। किसी ने ऐसा नहीं सुना कि माँ बलि की पूर्णतः विरोधी हैं। जयरामवाटी में सिंहवाहिनी के और कामारपुकुर में शीतलादेवी के मन्दिर में वलि होता थी।... वही माँ मठ में, सन्यासियों के आश्रम में पशुबलि का निषेध कर देती हैं।

स्वामी विवेकानन्द जी ने रामकृष्ण मिशन की प्रतिष्ठा कर संन्यासियों को जनसेवा के कार्यों में जो लगाया था, उस सम्बन्ध में पहले-पहल कई लोगों के मन में ऐसा सन्देह था कि स्वामीजी का यह कार्य ठाकुर की

भावधारा के अनुकूल नहीं है। इस सम्बन्ध में कभी कभी कुछ लोगो ने माँ से पूछा भी था। माँ ने किसी को उत्तर दिया था, "यह सभी ठाकुर का काम है।" किसी दूसरे से उन्होंने कहा था, "बेटा, तुम लोग काम करके खाओ। काम न करने से भला कौन खाना देगा? धूप में घूम-घूमकर भीख माँगने से सिर फिर जायगा। भोजन ठीक न मिले, तो शरीर अस्वस्थ हो जायगा। तुम लोग वह सब बात मत सुनना। काम करो, अच्छी तरह खाओ, पियो और भगवान् का भजन करो।"

इस प्रसंग में स्वामी शुद्धानन्द जी की बात याद हो आती है। वे कहते, "स्वामीजी ने कहा है कि ठाकुर का एक उपदेश लेकर उस पर बड़ी बड़ी किताबें लिखी जा सकती हैं। माँ के केवल इस उपदेश पर कि 'बेटा, काम करके खाओ', मैं भी कई खण्डों का एक ग्रन्थ लिख सकता हूँ।" उन्हीं के विशेष आग्रह पर 'श्रीश्रीमायेर कथा' पहले-पहल प्रकाशित हुई। वह घटना उल्लेखनीय है। स्वामी अरूपानन्द माँ के विशेष कृपाप्राप्त शिष्य थे। उन्होंने जिस समय जयरामवाटी जाकर माँ के प्रथम दर्शन किये थे, तभी से उन सब बातों को वे लिपिबद्ध करके रख लेते थे। श्री माँ के लीलावसान के तुरन्त बाद ही उन्होंने अन्य भक्तों से भी माँ के संस्मरण इकट्ठा करना शुरू किया। श्रीमती--की दैनन्दिनी, जो 'श्री श्रीमायेर' का प्रथम अंश बनी, में बड़ा सुन्दर विवरण पाकर वे और भी आनन्द और उत्साह के साथ इस

सम्बन्ध में विशेष प्रयत्न करने लगे। धीरे धीरे बहुत सी सामग्री इकट्ठी हो गयी, पर अरूपानन्दजी को वह सब प्रकाशित करने का साहस नहीं हुआ। इसके लगभग दो वर्ष बाद स्वामी शुद्धानन्दजी काशी गये और वहाँ कुछ दिन रहे, उस समय उन्होंने यह सामग्री पढी और पढ़कर वे पुलकित हो उठे। कलकत्ता लौटकर उन्होंने स्वामी सारदानन्दजी से यह सामग्री पुस्तकाकार में उद्बोधन से प्रकाशित करने का विशेष अनुरोध किया।

उसी समय 'प्रवासी' पत्रिका के सम्पादक, मनीषी रामानन्द बाबू ने अपनी इस पत्रिका में माँ के बारे में एक लेख प्रकाशित किया था। उन्होंने उसमें यह अनुरोध भी किया था कि जो माँ के कृपाप्राप्त भक्त हैं, वे श्री माँ के जीवन के सम्बन्ध में और भी संस्मरण प्रकाशित करें। 'प्रवासी' में छपा यह लेख श्री गणेन महाराज और 'श्रीश्रीलीलाप्रसंग की सहायता से लिखा गया था। शुद्धानन्दजी ने 'प्रवासी' के सम्पादक के अनुरोध का उल्लेख करते हुए सारदानन्दजी से कहा, जब जनता माँ के सम्बन्ध में और अधिक जानने को उत्कण्ठित है, तो यह सब सामग्री प्रकाशित करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। सारदानन्दजी राजी हुए और बोले कि संगृ- हीत सामग्री को देखकर अच्छी तरह सम्पादित करके प्रकाशित करना होगा। यह तय हुआ कि वे और शुद्धानन्दजी दोनों एक साथ बैठकर पहले सब सुनेंगे, और फिर वह सामग्री पुस्तकाकार में प्रकाशित होगी। अरूपानन्दजी को काशी

में पत्र लिखा गया, गणेन महाराज ने रुपया भेजा। वे पाण्डुलिपि को लेकर उद्‌बोधन आये। सन्ध्या के बाद सारदानन्दजी के कमरे में उसे पढ़ा गया। वे और शुद्धानन्दजी दोनों साथ बैठकर सुनने लगे। अन्य दूसरों को भी सुनने-पढ़ने का सौभाग्य मिला था और जब वह सब सामग्री पुस्तकाकार में प्रकाशित हुई, तो भक्तों और सर्वसाधारण पाठकों का हृदय आनन्द से भर गया।

श्री माँ की सन्तानों में सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से गुण-दोष का विचार करने पर अच्छे और बुरे सब प्रकार के लोग मिलेंगे। अच्छों को तो सभी स्नेह और प्यार करते हैं, उनकी प्रशंसा सुनकर माँ भी प्रफुल्लित होतीं और दूसरों के पास उत्फुल्ल हो कहतीं, 'मेरा गुणी बेटा।' पर बुरी सन्तानों की निन्दा और दोष भी माँ को सुनना पड़ता और उन्हें पीड़ा भी होती। किन्तु उनका स्नेह-प्यार सभी सन्तानों पर सब समय समान ही रहता। उसमें तनिक भी कमी या व्यवहार में अन्तर किसी की नजरों में न पड़ा। इस सन्दर्भ में नवासन निवासी एक सन्तान के प्रति माँ के अपार स्नेह की बात स्मरण हो आती है। माँ की कृपा प्राप्त करनेवाला यह युवक कुलीन वंश का था, शिक्षित और गुणवान था। दुर्योग से उसके पैर फिसल गये। माँ पर उसकी श्रद्धा-भक्ति पूर्ववत् ही थी और पहले की ही तरह वह आया-जाया भी करता। पर दूसरे भक्तों की दृष्टि में यह बात खटकती। उन्होंने एक दिन माँ के पास शिकायत की और

कहा कि चरित्रभ्रष्ट युवक को उनका इस प्रकार प्रश्रय देना ठीक नहीं है, अतः वे उसे आने से मना कर दें। माँ ने सब कुछ सुना, अपनी उस सन्तान के लिए बड़ा खेद भी प्रकट किया, पर भक्तों से वे बोलीं, "मैं मना नहीं कर पाऊँगी। माँ होकर लड़के को 'मत आओ' कहना यह मेरे मुँह से नहीं निकल पायेगा।" सन्तान का आना-जाना बन्द नहीं हुआ, माँ के स्नेह-आदर में भी कोई कमी नहीं हुई। परन्तु बाद में लड़के के मन में, लगता है शायद इसी के फलस्वरूप, अनुताप और ग्लानि का उद्रेक हुआ था।

अपनी सन्तानों के प्रति--लड़के-लड़कियों के प्रति माँ के हृदय का जैसा आकर्षण मैंने अपनी आँखों से देखा है, उसका वर्णन करना यद्यपि मेरी सामर्थ्य से बाहर है, तथापि उसका कुछ आभास देने का मैं प्रयास कर रहा हूँ। ठाकुर और माँ की जन्मभूमि में जाना उस समय कितना कठिन काम था, यह आज के लोगों की समझ से बाहर है। जिस किसी तरफ से जाओ, दस-बारह कोस का रास्ता पैदल या बैलगाड़ी द्वारा तय करने के अलावा कोई चारा नहीं था। वह कष्ट स्वेच्छा से स्वीकार कर माँ की सन्तानें उनके पास आया-जाया करती थीं।

(क्रमशः)

•

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनुवादक—स्वामी व्योमानन्द

(गतांक से आगे)

स्थान--बेलुड़ मठ

१९१६

साधन-भजन के सम्बन्ध में एक ही नियम सभी के लिए लागू नहीं होता। किसकी किस ओर tendency (प्रवृत्ति) है, पहले अच्छी तरह से देख लेना चाहिए। किसी को उसके भाव से विपरीत उपदेश देने से उसका कोई उपकार तो होता नहीं, उल्टे अपकार ही होता है। इसलिए किसकी tendency (प्रवृत्ति) किधर है, यह अच्छी तरह देखकर, और किस ढंग से उससे कहने पर वह सहज ही उसे ग्रहण कर सकेगा यह भी अच्छी तरह समझकर, तब किसी को कुछ कहना चाहिए।

साधन-भजन के सम्बन्ध में general (सामान्य) रूप से दो-एक बातें छोड़ सबके सामने व्यक्तिविशेष से कुछ कहना ठीक नहीं। ठाकुर को भी देखा; वे प्रत्येक को अलग बुलाकर, कौन किसका अधिकारी है यह देखकर तदनुरूप उपदेश देते थे। साधन-भजन के सम्बन्ध में यदि प्रश्न करना हो, तो एकान्त में ही करना उचित है। मामूली तौर से कुछ बातें सबको मालूम होनी चाहिए।

प्रथम--भगवान् में विश्वास चाहिए। मन में यह दृढ़ रूप से बिठा लेना होगा कि उन्हें पा लेने से, उनकी कृपा होने से, मेरे जीवन के सारे question (संशय) solved (हल) हो जाएंगे और संसार में जिस कारण से मेरा आना

हुआ है, वह सार्थक हो जायगा, मैं अमृत का आस्वादन कर अमर हो जाऊँगा।

द्वितीय--ब्रह्मचर्य के विना किसी उच्च भाव की धारणा नहीं हो सकती। शरीर,मन और brain(मस्तिष्क) को पुष्ट करने के लिए, उनका full development(पूर्ण विकास) करने के लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। ब्रह्मचर्यपरायण व्यक्ति की एक special (विशेष) नाड़ी होती है, जिसके फलस्वरूप उसकी स्मृतिशक्ति, धारणाशक्ति अद्भुत रूप से बढ़ जाती है। हमारे आचार्यों ने ब्रह्मचर्य पर क्यों इतना जोर दिया है? वे जानते थे कि वह यदि ठीक न रहे तो सब नष्ट हो जायगा। ब्रह्मचारी के शरीर में waste (क्षय) नहीं होता है। इसीलिए वह भले ही ऊपर से पहलवान न हो, किन्तु दिन दिन उसके brain (मस्तिष्क) की fertility (उर्वरता) इतनी बढ़ जाती है कि उसमें अतीन्द्रिय राज्य के तत्त्व को धारण करने की सामर्थ्य सहज ही पैदा हो जाती है।

तृतीय--जिह्वा का संयम। जीभ अनेक अनर्थ करती है। ठाकुर कहते थे--"पेट और सिर ठंडा रखना।" पेट और सिर के ठंडा रहने से बहुत से काम किये जा सकते हैं। व्यर्थ की ज्यादा बात करने से सिर गरम हो जाता है। सिर के गरम होने से ध्यान-धारणा का अभ्यास नहीं हो पाता, चित्त चंचल हो जाता है, नींद नहीं होती, नाना अनर्थ होते हैं। फिर, जो लोभी है, खाने-पीने में जिसका संयम नहीं है, वह स्वयं की शारीरिक और मानसिक हानि

कर बैठना है। मान लो, कहीं खाने की अच्छी अच्छी चीजें मिलीं और वह वहुत सा खा गया, तो वाद में वह बेचैन हो जाता है। उसमें जितनी energy (शक्ति) है, वह खाना हजम करने में ही समाप्त हो जाती है, और यदि हजम न कर सका, तो बीमार पड़ जाता है। या फिर प्याज, लहसुन आदि उत्तेजक पदार्थ खाकर वह शरीर और मन को इतना excited (उत्तेजित) कर लेता है कि उसका वेग सँभालने में ही उसकी सारी शक्ति समाप्त हो जाती है। मेरे मतानुसार, जो लोग साधन-भजन करना चाहते हैं, उन्हें खाने पीने के सम्बन्ध में विशेष नजर रखना उचित है। अधिक भोजन कभी भी नहीं करना चाहिए। ऐसी चीजें खानी चाहिए, जो पुष्टिकर एवं सुपाच्य हों तथा उत्तेजक न हों। उत्तेजक वस्तुओं का आहार जैसे दोषयुक्त है, वैसे ही और भी ऐसी कितनी ही चीजें हैं, जिन्हें खाने से तमोगुण की वृद्धि होती है; वे सब वस्तुएँ भी नहीं ग्रहण करनी चाहिए। खाने की आवश्यकता क्यों है ? इसलिए कि शरीर अच्छा रहे। भगवान् का स्मरण-मनन करने के लिए शरीर को अच्छा रखना चाहिए। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। अतएव शरीर को स्वस्थ रखना होगा। पर इसका यह अर्थ नहीं कि शरीर पर ही दिनरात मन को लगाये रखो।

ठाकुर कहते थे, "दिन में ठूँस-ठूँसकर खा लो, रात में कम खाना।" दिन में पेट भरकर खाओ, सब हजम हो जायगा। रात में कम खाने से शरीर हलका रहेगा, ध्यान-भजन की भी खासी सुविधा होगी। रात में भर पेट खाने

से आलस्य बढ़ जाता है और सिर्फ सोने की ही इच्छा होती है। रात सोकर बिताओगे या साधन-भजन करोगे ? दिन में नाना प्रकार की गड़बड़ी रहती है, मन को स्थिर करने बैठो, तो नाना प्रकार के गोलमाल आकर उसे चंचल कर देते हैं। रात में प्रकृति शान्त हो जाती है, जीव-जन्तु खर्राटे भरते हैं---साधना के लिए यही उपयुक्त समय है। गम्भीर रात्रि में जप-ध्यान थोड़ी चेष्टा से ही जम जाता है।

साधन-भजन का ढोल नहीं बजाना चाहिए---उससे अनिष्ट होता है। विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार की बातें कहकर हँसी उड़ाते हैं। फिर, यह ठीक नहीं, वह ठीक नहीं इस तरह नाना प्रकार के उपदेश देकर वे मन को सन्दिग्ध और चंचल बना देते हैं तथा साधना में विघ्न पैदा करते हैं। यथार्थ साधक कैसा होता है, जानते हो ? मच्छरदानी के अन्दर सोया रहता है; सब लोग सोचते हैं कि सो रहा है, पर वह पूरी रात जप-ध्यान करके बिता देता है। सबेरे जब उठता है, तो लोग समझते हैं कि वह सोकर उठा है।

पहली उम्र में अच्छी साधना करके उनका (भगवान् का) स्वाद पा लेना चाहिए। एक बार जिसने स्वाद पा लिया, वह फिर कहाँ जायगा ? उसका सिर काट लेने पर भी वह फिर उनको कभी नहीं छोड़ सकता। मुझे बहुधा ऐसा लगता है कि जो लोग खूब नींद लेना चाहते हैं, वे यदि पहले-पहल दिन में सो लें और रात में जगें तो वह भी अच्छा है। साधन-भजन का सुन्दर समय है सन्धिक्षण और गम्भीर रात्रि। साधारणतया मनुष्य यह समय व्यर्थ

ही नष्ट कर देता है।

ठाकुर रात में नहीं सो सकते थे। उनके पास जो लड़के रहते, उन्हें भी रात में नहीं सोने देते थे। उनके सो जाने पर गम्भीर रात्रि में उन लोगों को धक्का देकर उठा देते। क्या कहते थे, जानते हो? "तुम लोग सोते रहोगे क्या रे? क्या सोने के लिए यहाँ आये हो?" सब को उठाकर नाना प्रकार से उपदेश दे वे ध्यान-धारणा करने के लिए किसी को पंचवटी भेज देते थे, तो किसी को काली माँ के मन्दिर में, और किसी को शिव-मन्दिर में। वे लोग भी आदेशानुसार जप-ध्यान समाप्त कर फिर से आकर सो जाते थे। इस तरह वे सबसे परिश्रम करा लेते थे। वे और भी एक सुन्दर बात कहते--"रात को तीन लोग जागते हैं--योगी, भोगी और रोगी। तुम सब योगी के दल के हो, रात में नींद तुम लोगों के लिए नहीं है।"

स्थान – बलराम मन्दिर, कलकत्ता

२३ जनवरी, १९१८

सवेरे ७ बजे हैं। महाराज के कमरे में स्तवपाठ हो रहा है। महाराज स्थिर हो एकाग्रचित्त से सुन रहे हैं। पहले गुरुस्तव का पाठ हुआ, फिर जगद्धात्री और कालिकास्तव का।

गुरुस्तव--

शरीरं सुरूपं सदा रोगमुक्तं,
यशश्चारुचित्रं धनं मेरुतुल्यम्।

गुरोरंघ्रि पद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।

जगद्धात्री ध्यान—

ॐ सिंहस्कन्धाधिसंरूढां नानालंकारभूषिताम् ।
चतुर्भुजां महादेवीं नागयज्ञोपवीतिनीम ।।

इत्यादि ।

जगद्धात्री स्तव—

आधारभूते चाधेये धृतिरूपे धुरन्धरे ।
ध्रुवे ध्रुवपदे धीरे जगद्धात्रि नमोऽस्तुते ।।

इत्यादि ।

दक्षिणाकालिका ध्यान—

ॐ करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम् ।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम् ।।
सद्यश्छिन्नशिरः खड्गवामाधोर्ध्वकराम्बुजाम् ।
अभयां वरदांचैव दक्षिणोर्ध्वाधःपाणिकाम् ।।

स्तवपाठ समाप्त होने के कुछ समय बाद रामलाल दादा (ठाकुर के भतीजे) दक्षिणेश्वर से आये। उनकी यथाविधि अभ्यर्थना करने के बाद महाराज ने दक्षिण-भारत के भ्रमण के सम्बन्ध में बातचीत आरम्भ की। कांची, श्रीरंगम्, कन्याकुमारी आदि तीर्थस्थानों की देवदेवियों की मूर्ति, वहाँ के लोगों के आचार-विचार और उनकी श्रद्धाभक्ति एवं प्राचीन मन्दिरों की उत्तम शिल्प-कला आदि की प्रशंसा करने लगे।

बातचीत के प्रसंग में उन्होंने और भी कहा, "दक्षिण-

भारत म बहुत से लोगों ने पेट के कारण एवं उच्च जाति की घृणा के कारण अन्य धर्म ग्रहण कर लिया है। मेरी इच्छा होती है कि गंगाजल और श्री जगन्नाथ जी का महाप्रसाद खिलाकर उन सबको फिर से हिन्दू जाति मे ले लूँ।"

स्थान — बलराम मन्दिर, कलकत्ता

२४ जनवरी, १९१८

सबेरे ७ बजे महाराज ने एक साधु से स्तवपाठ करने के लिए कहा। पहले कालिकास्तव और फिर त्रिपुर-सुन्दरीस्तव का पाठ होने के बाद महाराज ने "नवीन नीरद" गोपाल के इस स्तव का पाठ करने के लिए कहा।

त्रिपुरसुन्दरी का स्तव—

कदम्बवनचारिणीं मुनिकदम्बकादम्बिनीम्।
नितम्बजितभूधरां सुरनितम्बिनीसेविताम्॥
इत्यादि।

गोपालस्तोत्र—

नवीननीरदश्यामं नीलेन्दीवरलोचनम्।
वल्लवीनन्दनं वन्दे कृष्णं गोपालरूपिणम्॥
इत्यादि।

कल से रामलाल दादा बलराम मन्दिर में हैं। सबेरे वे महाराज के कमरे में बैठकर स्तवपाठ सुन रहे थे। स्तवपाठ समाप्त होने पर महाराज ने रामलाल दादा से एक गाना गाने के लिए कहा। रामलाल दादा ने मधुर कण्ठ से गाना प्रारम्भ किया। ठाकुर को यह गीत बहुत ही प्रिय था। रामलाल दादा ने यह गीत ठाकुर को कई

बार सुनाया था।

बोलो रे श्री दुर्गानाम
(ओरे आमार, आमार मन।)
नमो नमो नमो गौरि, नमो नारायणि।
दुःखी दासे करो दया, तबे गुण जानि॥
तुमि सन्ध्या, तुमि दिवा, तुमि गो यामिनी।
कखनओ पुरुष होओ मा, कखनओ कामिनी॥
रामरूपे धरो धनु मा, कृष्णरूपे बाँशी।
भुलालि शिवेर मन मा, होये एलोकेशी॥
दशमहाविद्या तुमि मा, दश अवतार।
कोनोरूपे एइबार आमारे करो पार॥
यशोदा पूजियेछिलो मा, जवाबिल्वदले।
मनोवांछा पूर्ण कैलि, कृष्ण दिये कोले॥
जेखाने सेखाने थाकि मा, थाकि गो कानने।
निशिदिन थाके जेनो मन ओ रांगा चरणे॥
जेखाने सेखानें मरि मा, मरि गो बिपाके।
अन्तकाले जिह्वा जेनो मा, श्री दुर्गा बोले डाके॥
यदि बोलो जाओ जाओ मा, जाबो कार काछे।
सुधामाखा तारानाम मा, आर कार आछे॥
यदि बोलो छाड़ो छाड़ो मा, आमि ना छाड़िबो।
बाजन नूपुर होये मा, तोर चरणे बाजिबो॥
जखन बसिबे मागो, शिव सन्निधाने।
जय शिव जय शिव बोले बाजिबो चरणे॥
चरणे लिखिते नाम, आँचड़ यदि जाय।

भूमिते लिखिये थुई नाम, पद दे गो ताय ।।
शंकरी होइये मागो, गगने उड़िबे ।
मीन होये रबो जले मा, नखे तुले लबे ।।
नखाघाते ब्रह्ममयि, जखन जाबे पराणी ।
कृपा करे दिओ मागो रांगा चरण दुखानि ।।
पार करो ओमा काली, कालेर कामिनी ।
तराबारे दुटि पद, करेछो तरणी ।।
तुमि स्वर्ग, तुमि मर्त्य, तुमि गो पाताल ।
तोमा होते हरि ब्रह्मा द्वादश गोपाल ।।
गोलके सर्वमंगला मा, ब्रजे कात्यायनी ।
काशीते मा अन्नपूर्णा, अनन्तरूपिणी ।।
दुर्गा दुर्गा बोले जेवा पथे चले जाय ।
शूलहस्ते शूलपाणि रक्षा करेन ताय ।।

वाद में और एक गाना गाया--

के रणे नेमेछे वामा नीरदवरणी ।
शोणित सायरे जेनो भासिछे नीलनलिनी ।।
के रे घूर्णितलोचनी त्रिनयनी दिगम्बरी,
पदभरे धराधर अधीरा धरणी,
ताइ भेवे श्रीचरणे पड़े आछेन शूलपाणि ।।

•

स्वामी ब्रह्मानन्द जी के संस्मरण

स्वामी यतीश्वरानन्द

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन एवं उनके विचारों से मेरा प्रथम परिचय सन् १९०६ में हुआ। 'श्रीरामकृष्णकथामृत' और स्वामीजी द्वारा लिखी गयी 'राजयोग' नामक पुस्तक मुझे एक ही साथ प्राप्त हुई। इन पुस्तकों तथा ऐसी ही अन्य पुस्तकों को पढ़ने के बाद मुझमें एक नयी विचारधारा का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप मैंने स्वामी ब्रह्मानन्द जी से दीक्षा लेने का और धार्मिक जीवन यापन करने का शुभ संकल्प लिया। पर उसे साकार रूप देने में कुछ समय लगा।

सन् १९०७ में मैं राजशाही गया। वहाँ दो वर्ष रहने के बाद मैं पुनः १९०९ के ग्रीष्म के अन्त में कलकत्ता चला आया। स्वामी ब्रह्मानन्द जी उन दिनों मद्रास से लौटकर उड़ीसा में रह रहे थे। सन् १९१० में श्रीरामकृष्ण जयन्ती समारोह के अवसर पर मुझे उनका प्रथम दर्शन प्राप्त हुआ। उत्सव समाप्त होने के बाद महाराज पुरी चले गये और मैं अपने एक मित्र सीतापति (जो आगे चलकर स्वामी राघवानन्द हुए) के साथ बेलुड़ मठ गया और वहाँ साधु-संन्यासियों से मिला। इसके बाद मैं प्रति शनिवार और रविवार को बेलुड़ मठ में ही रहने लगा। पूज्यपाद बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द), महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) तथा अन्य संन्यासियों ने अपने स्नेह-प्रेम से मुझे अपना प्रियपात्र बना लिया। सन् १९१० के अन्त में जब स्वामी ब्रह्मा-

नन्द जी विवेकानन्द-जयन्ती के पूर्व कलकत्ता आये हुए थे, तब पूज्य महापुरुष महाराज ने उनसे मेरा परिचय कराया। महाराज (ब्रह्मानन्द जी) से मिलकर मुझे लगा मानो उनसे मेरा सम्बन्ध बहुत पूर्व से था और मेरा मन उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम से परिपूर्ण हो गया। मैं उनसे मिलने के लिए अनेकों बार कलकत्ता एवं बेलुड़ मठ गया और बहुधा मुझे उनकी थोड़ी बहुत सेवा करने का सुअवसर भी मिल जाया करता था।

एक दिन विनोद बाबू के घर उत्सव था, जिसमें कई भक्तगण और संन्यासी आये हुए थे। वहाँ पर जब मैं महाराज को एक बडे हाथ-पंखे से हवा कर रहा था, तब वे अनायास ही कहने लगे, "देखो, यदि शरीर और मन को संसार में लगाया जाय, तो संसार उन दोनों को नष्ट कर देता है, पर यदि वे भगवान् में लगा दिये जायँ, तो वे उन दोनों को स्वस्थ रखते हैं।"

मेरी साधु बनने की बड़ी इच्छा थी और महाराज ने मेरी इस महत्त्वाकांक्षा को प्रोत्साहन दिया। एक दिन मैं अपने एक मित्र के साथ महाराज से मिलने बेलुड़ मठ गया। वहाँ पहुँचने पर हमें पता चला कि वे बाबूराम महाराज के साथ बलराम-मन्दिर गये हुए हैं। बलराम-मन्दिर श्रीयुत बलराम बोस के कलकत्ता स्थित मकान को कहते हैं। अतः हम भी बलराम-मन्दिर गये। वहाँ महाराज ने बातचीत के दौरान मेरे मित्र को अपना हाथ दिखलाने के लिए कहा। हाथ देखने के बाद वे बोले,

"तुम्हें थोड़ी काम-सम्बन्धी बाधा रहेगी, पर यदि श्री गुरु महाराज (श्रीरामकृष्ण) चाहेंगे, तो वह भी दूर हो जायगी।" बाबूराम महाराज का मुझ पर स्नेह था। उन्होने महाराज से मेरा भी हाथ देखने की प्रार्थना की, पर उन्होंने नहीं देखा। इस पर मुझे खेद हुआ और मैं सोचने लगा कि मेरे मित्र के तो साधु बनने की थोड़ी सम्भावना है, जबकि शायद मेरी नहीं है।

इस घटना के कुछ दिनों बाद, मैंने एक दिन बेलुड़ मठ में प्रवेश किया ही था कि महाराज के एक सेवक ने मुझे देखकर कहा, "अच्छा सुनो, महाराज कह रहे थे कि तुम साधु बनोगे।" उनकी बात से मेरा उत्साह बढ़ा और यथासमय मैं संन्यासी बना। पर मेरे मित्र ने गृहस्थजीवन अपनाया। वह यद्यपि उच्च पदाधिकारी है,पर अभी भी वह श्रीरामकृष्ण का बड़ा भक्त और माँ सारदा का शिष्य है।

महाराज एक दिन बहुत से लोगों के साथ नाव द्वारा दक्षिणेश्वर गये। मैं भी उनके साथ गया। वे उस दिन अत्यन्त आनन्द में थे। उन्होंने कहा, "दक्षिणेश्वर में रहना, भले कुत्ता बनकर ही सही, एक महान् सौभाग्य की बात है।"

हम लोग जब महाराज के निकट बैठते थे, तब हम लोगों को ऐसा अनुभव होता कि उनके चारों ओर एक दिव्य वायुमण्डल का घेरा है और हम सब उसके अन्दर आ गये हैं। एक दिन मेरे समक्ष उन्होंने स्वयं को एक नये रूप में प्रकट किया। वे जब मठ के प्रांगण में टहल रहे थे, तब मुझे एकाएक लगा, मानो वे एक अलौकिक देवपुरुष

हैं। वह दृश्य मेरे लिये अविस्मरणीय है।

सन् १९११ में महाराज ने मुझे दीक्षा देकर कृतार्थ किया और कुछ दिनों बाद वे पुरी चले गये। मैंने उन्हें पत्र लिखा, जिसमें अपनी साधु बनने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने इसके उत्तर में स्वामी शकरानन्द जी से मुझे लिखवाया कि यदि मैं अपने को साधु-जीवन के योग्य समझता हूँ, तो मैं उनके पास चला क्यों नहीं आता? अतः मैं उसी वर्ष अक्तूबर महीने में महाराज के पास पहुँच गया और रामकृष्ण संघ में सम्मिलित हो गया। इस समय उन्होंने मुझे अतल बाबू के घर 'जगद्धात्री पूजा' सम्पन्न करने को कहा। उक्त पूजा में हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) तंत्रधारक और नीरोद महाराज (स्वामी अम्बिकानन्द) सहायक पुजारी थे। 'कुमारी-पूजा' (कुँआरी कन्या की देवीभाव से पूजा) भी की गयी। इस प्रकार मेरे संन्यास लेने के ठीक बाद ही उन्होंने मुझे पूजा-अनुष्ठानादि करने का अवसर देकर मेरे आध्यात्मिक जीवन को प्रखर बनाने में सहायता की।

कुछ दिनों के पश्चात् महाराज ने मुझे स्वामी शर्वानन्द जी के साथ मद्रास जाने की आज्ञा दी; पर वहाँ जाने के पहले मैंने उनसे कुछ आध्यात्मिक उपदेश देने की प्रार्थना की। बहुत गम्भीर एवं कृपा से परिपूर्ण स्वर में महाराज ने कहा—"संघर्ष! संघर्ष! संघर्ष!" यही मेरे जीवन का मूल सिद्धान्त रहा है। उनके ये शब्द अभी भी मेरे कानों में गूँजते रहते हैं।

मुझे उन कुछ घटनाओं का स्मरण हो आता है, जो हमारे पुरी में महाराज के पास रहते समय घटी थीं। एक दिन अतल बाबू ने स्वामी शर्वानन्द जी से कहा, "आप लोग किस प्रकार के संन्यासी हैं? आप लोगों को कोई सिद्धियाँ प्राप्त नहीं हैं।"

यह सुनकर महाराज ने कहा, "सिद्धियाँ पाना तो सरल है, पर मन की पवित्रता प्राप्त करना कठिन है। यह चित्तशुद्धि ही मुख्य है।"

अन्य एक दिन महाराज अस्वस्थ थे। उन्हें पेट में दर्द था। उस दिन पुरी के मन्दिर में कोई विशेष पर्व मनाया जा रहा था। हममें से अधिकांश लोग यह सोचकर कि महाराज के सेवक उनकी देखभाल कर लेंगे, "मन्दिर के लिए निकल पड़े। वहाँ बहुत समय बिताकर हम सब शाम तक लौटे। महाराज ने कुछ रुखाई से हम लोगों को हमारी स्वार्थबुद्धि के लिए झिड़का, पर अन्त में कहा, "मैं तुम लोगों से कुछ नहीं चाहता, केवल तुम लोगों की कल्याण-कामना करता हूँ, और जो कुछ मैं तुमसे कहता हूँ, वह केवल तुम्हारे कल्याण के लिए।"

उसके बाद मैंने रात्रि में महाराज की सेवा करने का कार्य अपने ऊपर ले लिया। एक दिन रात में महाराज को बहुत गर्मी लगने लगी और हवा आने के लिए उन्होंने मुझे सब खिड़कियाँ खोल देने को कहा। मेरा व्यक्तिगत सेवा करने का यह प्रथम अवसर था तथा समझ भी कुछ कम थी, इसलिए मुझे किवाड़ की चिटक-

नियाँ बन्द करने का ध्यान नहीं रहा। दूसरे दिन महाराज को हरारत मालूम हुई। इससे मुझे बहुत क्षोभ हुआ। महाराज ने मुझे बिलकुल नहीं डाँटा, केवल दूसरों से सामान्य ढंग से कहा कि मैं अभी निरा बच्चा ही हूँ और चीजों का ज्ञान ठीक से नहीं है। उनके इस प्रकार कहने से किसी ने भी मेरी इस त्रुटि का स्मरण नहीं दिलाया, पर मैंने तो इससे अपना सबक ले लिया।

सन् १९११ के अन्त में मैं मद्रास गया, जहाँ मैं पाँच वर्षों तक रहा। १९१६ में मैंने वहाँ महाराज के दर्शन पुनः प्राप्त किये। मुझे उन दिनों मद्रास के मठ के मैनेजर के रूप में कठोर श्रम करना पड़ता था। मुझे कुर्सी पर लगातार घण्टों बैठे देखकर उन्होंने मुझसे एक दिन कहा, "क्या मैंने तुम्हें यहाँ इस मुंशीगिरी के लिए भेजा है ?" उन्होंने मुझे अच्छी डाँट लगायी और स्वामी शर्वानन्द जी को भी डाँटा और उनसे कहा, "इस लड़के को अध्ययन का कोई मौका न देकर तुम इससे मुंशीगिरी करा रहे हो !"

विश्वरंजन महाराज (स्वामी हरिहरानन्द) महाराज के निजी सेवक थे। वे मुझे अक्सर बाजार से महाराज के लिए जिंजली तेल लाने के लिए कहा करते। मैं पूछ-ताछ करके उत्तम प्रकार का तेल पाने की कोशिश करता। इस तेल की बात को लेकर एक दिन महाराज ने कहा, "क्या मैंने तुम्हें यहाँ केवल जिंजली तेल की पूछताछ करने के लिए भेजा है ?" इस डाँट-फटकार को उनके प्रेम और कृपा का सूचक समझकर और हृदय के अन्तराल

में यह अनुभव कर कि वे मेरे और मैं उनका हूँ, उनके भूल-सुधार पर मैं प्रसन्न होता था।

इन्हीं दिनों महाराज ने मुझे पठन-पाठन और जप ध्यानादि पर विशेष जोर देने को कहा और प्रतिदिन विष्णु-सहस्रनाम का पाठ करने को कहा। उनकी कृपा से मेरा मन बहुत अच्छी स्थिति में रहता था, मेरा हृदय उनसे जुड़ा और हमेशा आनन्द से परिपूर्ण रहता था।

महाराज ने अन्य लोगों के साथ मुझे भी कन्या-कुमारी ले जाने की कृपा की थी। मैंने पहले कभी चण्डी (दुर्गा सप्तशती) का विधिपूर्वक पाठ नहीं किया था। मुझे उसमें वर्णित युद्ध और संहारलीला कभी पसन्द नहीं आयी, इसलिए मैं उसमें से केवल स्तुति-प्रार्थना आदि का ही पाठ किया करता। महाराज को जब इसका पता चला, तो उन्होंने मुझे इसके लिए डाँटा और पूरी चण्डी का पाठ कम से कम पन्द्रह दिनों में एक बार करने की आज्ञा दी। उन्होंने मुझे विष्णु-सहस्रनाम और चण्डी इन दोनों को तीन वर्षों तक नियमपूर्वक पढ़ने की आज्ञा दी। मैंने इससे भी अधिक समय तक उनका पाठ किया।

मेरे मन में अभिमान न आ जाये इसलिए मैं न तो लेख लिखता और न प्रवचन ही देता। फिर धार्मिक चर्चाओं से भी अलग रहता था। महाराज ने एक दिन त्रावणकोर के हरिपद आश्रम में मुझे आदेश दिया, "तुम हम लोगों से जो सुनते और सीखते हो, उसे दूसरों को बताओ।" पुनः एक दिन मद्रास में उन्होंने कहा था,

"सद्ग्रन्थों को पढ़ने की इस प्रकार की आदत बनानी चाहिए कि यदि एक दिन भी यह छूट जाय, तो बुरा लगने लगे। यदि मन उच्च आध्यात्मिक स्तर पर सहज रूप से न रह पाये, तो वह कम से कम अध्ययन में व्यस्त रखा जा सकता है, जिससे वह नीचे की ओर नहीं जा पायगा।"

एक अन्य समय महाराज मुझसे बोले, "तुम प्रति सप्ताह एक लेख क्यों नहीं लिखते ?" इसके उत्तर में मैंने कहा, "मुझे क्या लिखना चाहिए ? मुझे विचार ही नहीं आते।" तब वे बोले, "गहराई से सोचना सीखो और तब तुम शीघ्र ही अपने मन को विचारों से परिपूर्ण पाओगे।" इसके बाद भविष्य में मैंने अपने गुरु की महती कृपा से कभी विचारों का अभाव नहीं पाया।

जब हम लोग बँगलोर आश्रम में थे, उस समय एक दिन सुबह महाराज ने मुझे कुछ शारीरिक कसरतें दिखायीं और उनको प्रतिदिन करने के लिए कहा। मैं पहले से ही घर के अन्दर किये जानेवाले कुछ व्यायाम करता था और अब महाराज द्वारा जो व्यायाम बताये गये, उन्हें भी करने लगा। महाराज मुझसे बहुधा कहा करते—"शारीरिक, बौद्धिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक विकास सभी साथ साथ होना चाहिए।"

महाराज जब मद्रास आये, तब उन्होंने मुझसे कई बार कहा कि वे मुझे संन्यास देंगे। दूसरे संन्यासियों ने मुझे सलाह दी कि मैं समय से पहले महाराज के पास

जाकर संन्यास के लिए अनुरोध करूँ। मैं महाराज के पास गया और मूर्ख की तरह बोला, "महाराज, यदि आप मुझे योग्य समझते हैं, तो संन्यास-दीक्षा देने की कृपा करें।"

मेरे ऐसा कहने पर वे प्यार से बोले, "कोई भी व्यक्ति संन्यास के योग्य माना नहीं जा सकता, पर मैं तुम्हें संन्यास-दीक्षा दूँगा।"

मेरे संन्यास लेने के दिन मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ कि महाराज एक अलौकिक आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से मानो स्पन्दित हो रहे हैं। हवन समाप्त होने के बाद जब मैंने उन्हें प्रणाम किया, तब उन्होने मेरे सिर पर अपना हाथ रखा। मैंने उसी क्षण एक व्यापक ईश्वरीय सत्ता का अनुभव किया और मुझे लगा मानो महाराज, संसार और मैं स्वयं एक अनन्त सत्ता में मिल गये हैं। इस प्रकार महाराज ने कृपापूर्वक मुझे स्पष्ट रूप से अवगत करा दिया कि वास्तव में गुरु क्या हैं। तब मुझे इस श्लोक की सत्यता का अनुभव हुआ--

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

--"इस चराचर जगत् में व्याप्त जो अखण्ड मण्डलाकार परमात्मा हैं, उस परमात्म-पद के दर्शन करानेवाले गुरु को मैं नमन करता हूँ।"

उसी दिन रात्रि के समय हममें से कई लोग महाराज को घेरकर बैठे थे। स्वामी शर्वानन्द जी भी तब

वहीं थे। महाराज का मन उच्च आध्यात्मिक अवस्था में आरूढ़ था। मैंने सोचा कि वे साधना और जप-ध्यान के विषय में बोलेंगे, पर इसके बदले उन्होंने मुझे लक्ष्य करते हुए कहा, "तुम और क्या साधना करोगे? घर-घर जाकर लोगों को भगवान् का पवित्र नाम सुनाओ। यही अपने आप में एक बड़ी स धना है।" फिर स्वामी शर्वानन्द की ओर मुड़कर उन्होंने कहा, "शर्वानन्द, आजकल मुझे रामानुजाचार्य का भाव बहुत अच्छा लगता है। उनका सब प्राणियों को भगवन्नाम सुनाने में सहायक होना।" उस दिन महाराज ने मुझे एक नयी प्रेरणा प्रदान की और मेरे विचारों को भी नयी दिशा मिली। आज भी वह मेरे लिए जीवनोपयोगी है। मद्रास में मुझे महाराज से जो आध्यात्मिक प्रेरणा मिली, उसके फलस्वरूप मैंने स्वाध्याय और ध्यान पर ज्यादा जोर देना शुरू कर दिया और मैंने धर्म-सम्बन्धी कक्षाएँ लेना तथा सभाओं में व्याख्यान देना भी आरम्भ कर दिया। बाद में मैंने प्रयत्नपूर्वक लेखन-कार्य भी बहुत किया।

मद्रास मठ के लिए नया मकान तैयार करने की एक बड़ी समस्या थी, इस समस्या के माध्यम से महाराज की दैवी-शक्ति हमारे समक्ष प्रकट हुई। मठ का पुराना मकान नष्ट हो चुका था और इस कारण मठ को किराये के मकान में स्थानान्तरित किया गया। स्वामी शर्वानन्द और हम सब लोग कभी यह कल्पना भी नहीं कर पाते थे कि मठ के लिए नया भवन किस प्रकार बन सकेगा।

जमीन आदि तो पहले से ही खरीदी जा चुकी थी। महाराज जब मद्रास आये, तो उन्होंने कहा कि वे नये भवन की नीव रखेंगे, और उसके निर्माण के लिए स्वामी शर्वानन्द जी को धन संग्रह करने के लिए कहा तथा प्रयोजन होने पर कर्ज लेने की भी अनुमति दे दी। इसके बाद ही से आशातीत रूप में सहायता मिलने लगी, और आठ महीनों के भीतर ही सामने के हॉल को छोड़कर पूरा मकान रहने लायक तैयार हो गया। महाराज के बँगलोर से लौटने के बाद और हमारी संन्यास-दीक्षा के कुछ समय बाद ही महाराज ने उस नये मकान का उद्घाटन किया।

एक दिन मैं मन्दिर में श्रीरामकृष्ण देव की सन्ध्या-आरती कर रहा था। महाराज मेरे समीप ठीक पीछे खड़े थे। आरती करते समय मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो सभी कुछ एक अलौकिक सत्ता से परिपूर्ण है। प्रत्येक चित्र में, महाराज में और वहाँ उपस्थित हर व्यक्ति में मैंने उस सत्ता का स्पष्ट अनुभव किया। अभी भी जब कभी मैं आरती करता हूँ, मुझे ठीक वैसी ही अनुभूति होती है। यह महारा: की विशेष कृपा का परिणाम है।

उसी दिन शाम को हम लोग किराये के मकान की छत पर महाराज के पास बैठे थे। महाराज बोले, "मैंने श्रीरामकृष्ण से कातर होकर प्रार्थना की थी--'वे सब अभी बालक ही हैं। अतः वे किस प्रकार नये मकान का निर्माण कर सकेंगे? तुम्हें ही दया करके इसे सम्भव बना देना होगा।' और अब तुम देख रहे हो कि उनकी कृपा से यह'

नया मकान बन गया है।"

* * *

मद्रास में मैं अनेक कार्यों में व्यस्त रहता था। शास्त्र-अध्ययन और जप-ध्यान के लिए मुझे बहुत कम समय मिल पाता। महाराज ने मद्रास पहुँचते ही यह जान लिया कि मुझे परिवर्तन की आवश्यकता है। अतः उन्होंने मुझे मद्रास छोड़कर बँगलौर जाने की आज्ञा दी। मेरी बँगलौर जाने की बिलकुल इच्छा नहीं थी, पर महाराज को तो पता था कि मेरे लिए क्या अच्छा होगा। इसलिए उन्होंने एक दिन कहा, "अरे मूर्ख ! तुम अपनी रुचि स्वयं नहीं जानते। तुम्हें अब मद्रास में अधिक रहने की आवश्यकता नहीं है, बँगलौर चले जाओ।'

इसके पहले तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द) ने महाराज से मुझे बँगलौर भेजने की प्रार्थना की थी। मुझे यह भी मालूम पड़ा था कि महाराज भी इससे सहमत हो गये थे। उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए मैं १९१७ की ग्रीष्म में वहाँ गया था और एक वर्ष तक रहा था।

महाराज गर्मी के आरम्भ में पुरी चले गये। इसके कुछ दिनों बाद मैं बँगलौर गया। वहाँ मुझे साधना और अध्ययन आदि के लिए पर्याप्त समय मिलता था और प्रति रविवार को आश्रम में कक्षाएँ भी लेता था। उस साल गर्मी के अन्तिम दिनों में मुझे 'टायफाइड' हो गया। इससे मेरे पूरे शरीर में तीव्र जलन हुआ करती। मुझे उपचार के लिए अस्पताल में भर्ती किया गया। मुझे यद्यपि जोर से

पीड़ा हो रही थी, पर मेरा मन जरा भी विचलित नहीं हुआ। मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं था, पर मुझे लगता कि रोग बढ़ जाने पर उसे सहन कर सकना कठिन होगा। इसलिए मुझे मृत्यु सुखद जान पड़ी। जब ऐसा विचार मेरे मन में उठा, उसी समय मुझे महाराज के दर्शन हुए। दर्शन देकर महाराज ने कहा, "तुम भला कैसे मर सकते हो ? तुम्हें अभी भी श्रीरामकृष्ण का कार्य करना है।" इतना कहकर वे अदृश्य हो गये। मेरा मन नये उत्साह से भर गया और मेरे गालों पर से आनन्दाश्रु लुढ़क पड़े। अब मृत्यु के भय का कोई कारण ही नहीं रहा। मुझे असीम शान्ति मिली और मेरा रोग भी ठीक होने लगा।

बँगलौर में एक वर्ष से अधिक तथा दूसरा वर्ष मद्रास में अनेक स्थानों पर साधना में बिताकर, १९१९ के दिसम्बर के अन्त में मैं महाराज से मिलने भुवनेश्वर गया। वहाँ मुझे महाराज के पुनीत संग में कुछ दिन रहने का सौभाग्य मिला। तब भुवनेश्वर मठ का निर्माण-कार्य लगभग पूर्ण हो चुका था। एक दिन शाम के समय पुरी के वयोवृद्ध भक्त श्री अतल मिश्रा अपनी पत्नी के साथ वहाँ पहुँचे। वे बहुत खिन्न और उदास थे। महाराज ने उनके आने पर स्वामी वरदानन्द जी से भजन गाने को कहा। स्वामी वरदानन्द ने भजन गाना शुरू किया, जिसका आशय इस प्रकार था—"हे मन, जगन्माता के श्रीचरणों को अपना आश्रयस्थल बना लो, जो सब प्रकार के भय से तुम्हें मुक्त कर देगा . . .।" इस गाने को सुनकर

और उससे भी अधिक, महाराज के दर्शन और उनकी अमृतवाणी श्रवण कर उन वृद्ध पुरुष का मुख प्रफुल्लित हो उठा और उनका हृदय आनन्द से भर गया। हम लोग भी इस परिवर्तन को देख बहुत प्रसन्न हुए। भुवनेश्वर में कुछ दिन रहने के बाद महाराज ने स्वामी गोकुलानन्द जी के साथ मुझे कलकत्ता भेज दिया, जो उस समय बीमार थे। कलकत्ता से मैं बेलुड़ मठ गया और वहाँ मैं कुछ महीने रहा। सन् १६२० में विवेकानन्द-जयन्ती के पहले महाराज भी मठ पहुँच गये। हम लोग उनके कमरे में बैठकर ध्यान और विभिन्न स्तोत्र-पाठादि किया करते थे।

* * *

सन् १६२१ में वाराणसी में मैंने महाराज के अन्तिम दर्शन किये। मैं उस समय पूज्य हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) के साथ ठहरा हुआ था। महाराज के आगमन से वाराणसी सेवाश्रम और अद्वैत आश्रम में एक नवीन आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण हुआ और उन्होंने मुझे भी वहुत से सदुपदेश दिये। एक दिन उन्होंने मुझसे मेरी साधना के विषय में पूछा। मैंने उत्तर दिया, "मुझे ऐसा अनुभव होता है मानो मुझमें आध्यात्मिक जागरण नहीं हुआ है। मुझे मानसिक शान्ति भी नहीं मिल पा रही है। हम लोग जिन बुरे संस्कारों को लेकर जन्मे हैं, वे हमारी आध्यात्मिक प्रगति में बाधक बन रहे हैं।"

महाराज ने इसके उत्तर में कहा, "इस तरह से

मत सोचो। अर्धरात्रि में उठकर जप किया करो। पुरश्चरण (शास्त्रोक्त पद्धति से निश्चित संख्या में जप करना) करो। ऐसा करने से आध्यात्मिक जागरण स्वयंमेव हो जायगा।"

दूसरे दिन मन में एक प्रकार की व्यग्रता का अनुभव होने पर मैं महाराज के पास गया। मुझे आते देख वे उठ बैठे और स्वयं मेरे पास आये और थोड़े समय में ही उन्होने मुझे बहुत उपयोगी उपदेश प्रदान किया। उन्होंने कहा, "तुम्हारा मन केवल इसलिए अशान्त रहता है कि मैं तुमसे जो करने के लिए कहता हूँ, उसे तुम करना नहीं चाहते।" फिर उन्होंने अपना हाथ मेरे सिर पर रखते हुए मुझे बहुत आशीर्वाद दिया और मेरे मन को शान्ति से परिपूर्ण कर दिया।

महाराज की इच्छा थी कि मैं मायावती जाकर 'प्रबुद्ध-भारत' नामक पत्रिका का संचालन करूँ। पर स्वयं होकर इस विषय में उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा। किन्तु पूज्य सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्द) और निर्मल महाराज (स्वामी माधवानन्द) ने मुझसे अनेक बार मायावती जाने के लिए कहा, पर मैं वहाँ जाने के लिए तैयार नहीं हुआ।

एक दिन प्रात:काल जब मैं पूज्य हरि महाराज के पास उनकी सेवा में लगा हुआ था, मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मानो मेरा हठ टूटता जा रहा है और मेरे मन के अन्दर से एक आनन्द-प्रवाह बाहर फूट रहा है। मेरी

आँखों से आँसू बह पड़े। मैं उन आँसुओं को जितना पोंछता जाता था, उतना ही वे और निकल आते थे। इसके साथ मैंने यह भी अनुभव किया कि मेरे भीतर शरणागति का भाव उदित हो रहा है। मुझे यह सब महाराज का खेल-मात्र ही लगा। वे ही कृपापूर्वक मेरे अन्दर से हठ तथा अन्य बाधाओं को दूर करते जा रहे थे। शाम होते तक मेरा मन पूरी तरह स्थिर हो गया।

इसके पश्चात् एक दिन सुबह जब मैं महाराज को प्रणाम करने गया, तो उन्होंने कहा, "देखो, वे सब चाहते हैं कि तुम मायावती जाओ और 'प्रबुद्ध-भारत' का कार्य-भार सँभालो।" मेरा हठ जाता रहा था, अतः मंने बिना किसी हिचकिचाहट के कहा, "महाराज, यदि आप आज्ञा दें, तो मैं अवश्य जाऊँगा।" मेरे इस उत्तर से वे बहुत प्रसन्न हुए और मुझे बहुत आशीर्वाद दिया।

इसके वाद यह निश्चित हुआ कि मुझे मायावती जाना होगा। एक दिन सुबह महाराज को प्रणाम करने के बाद सुधीर महाराज, निर्मल महाराज एवं अन्य संन्यासियों के साथ मैं भी महाराज के पास बैठा था। महाराज ने बातचीत के आरम्भ में ही मुझसे कहा, "तुम्हारी साधना कैसी चल रही है?" मैंने उत्तर दिया, "कार्य अधिक रहता है। इसलिए मुझे पर्याप्त समय नहीं मिल पाता।" मेरे ऐसा कहने पर उन्होंने कहा, "यह सोचना गलत है कि कार्य के कारण समय नहीं मिलता। यह सब मन की चंचलता है, जिसके कारण व्यक्ति को ऐसा

अनुभव होता है।" फिर भावपूर्ण वाणी में वे कहने लगे, "व्यक्ति को पूजा और कर्म दोनों साथ साथ करते हुए अपनें मन को तैयार करना चाहिए।" उस दिन दिये गये ये उपदेश 'इटरनल कम्पैनियन' नामक पुस्तक के "कार्य और पूजा" वाले अध्याय में लिपिबद्ध हैं। ये विशेष रूप से मुझे कहे गये थे। उस दिन महाराज के द्वारा मेरे, निर्मल महाराज तथा अन्य संन्यासी जनों के बीच एक विशेष स्नेह का सम्बन्ध स्थापित किया गया। उन्होने कहा, "जिस प्रकार निर्मल मुझे प्रिय है, तुम एवं अन्य सब भी मुझे उसी प्रकार प्रिय हैं।"

जब मैं विचार करके देखता हूँ कि महाराज को सभी व्यक्ति प्रिय हैं, तब मुझे लगता है कि मुझे भी सभी प्रिय हैं। महाराज को अपने शिष्य तथा माँ सारदा के शिष्य समान रूप से प्रिय थे। वे कहा करते थे कि सभी लोग श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का कार्य करनें यहाँ आये हुए हैं। एक दिन उन्होंने मुझे लक्ष्य करके कहा, "उनका (प्रभु का) कार्य है, इस भाव से करने पर बन्धन नहीं हो सकता। बल्कि इससे सभी प्रकार का विकास--आध्यात्मिक, नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक--हो जायगा। बस, केवल अपने को उनके चरणों में समर्पित कर दो; शरीर और मन उन्हें सौंप दो; और उनके गुलाम बनकर रहो।" महाराज का यह उपदेश उनके अन्य उपदेशों के साथ मेरे जीवन का अवलम्ब बन गया है।

मेरी महाराज से किसी दिन बहुत खुलकर बातचीत

करने की इच्छा थी। मेरा मन कुछ भावनाओं से, जिन्हें मैं व्यक्त नहीं कर पाया था, बोझिल था। महाराज जिस समय मद्रास गये थे, मुझसे कहा था कि वे वापस लौटते समय मुझे अपने साथ बंगाल ले चलेंगे; पर इसके बदले उन्होंने मुझे बँगलौर भेज दिया।

सन् १९१९ के अन्त में जब मैं भुवनेश्वर गया, तब भी उन्होंने मुझे अपने साथ अधिक समय तक ठहरने न देकर बंगाल भेज दिया। इन सब कारणों से मेरे मन में क्षोभ था और अन्दर ही अन्दर मैं अशान्ति का अनुभव कर रहा था। मैं उनसे अपने मन की बात कहने का सुअवसर ढूँढ़ रहा था और एक दिन वह मिल भी गया।

सन् १९२१ में महाराज के जन्म-दिन पर मठ में 'काली-पूजा' मनायी गयी। मैंने मन ही मन अगली शाम को महाराज से मिलने की योजना बनायी, जिस समय दूसरे लोग मूर्ति-विसर्जन के लिए गंगा-तट पर चले जाने वाले थे। पर महाराज को मैंने यह कुछ नहीं बताया। उस शाम को मैं उनके कमरे में गया। स्वामी विशुद्धानन्द जी उनके समीप बैठे हुए थे। पेटापुरी भी वहीं थे। महाराज ने जैसे ही मुझे देखा, वे पेटापुरी से बालक की तरह जोर जोर से पुकारकर कहने लगे, "देखो, मैं कैसा योगी हूँ!" मुझे बाद में मालूम हुआ कि कुछ समय पहले उन्होंने पेटापुरी को यह देखने के लिए कहा था कि क्या मैं आया हूँ; वे जानते थे कि मैं आऊँगा!

उस दिन महाराज से मेरी बहुत देर तक बातचीत

हुई। महाराज कहने लगे कि उन्हें मालूम था कि जब मैं भुवनेश्वर गया था, उस समय मेरी भ्रमण की इच्छा थी; और इसीलिए उन्होंने मुझे बंगाल भेजा था। उन्हें यह भी पता था कि मेरी यह प्रवृत्ति शीघ्र ही दूर हो जायगी। इसे शीघ्र दूर करनें के लिए उन्होंने मुझे जल्दी ही भ्रमण के लिए बाहर भेज दिया था। मुझे कुछ लज्जा-सी लगी, जब मैंने देखा कि महाराज को मेरी कितनी चिन्ता है। उन्होंने मेरे मन से समस्त निराशा दूर कर उसे निर्मल बना दिया, जिसके फलस्वरूप हम दोनों एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझने लगे। इसके कुछ समय पश्चात् महाराज बेलुड़ मठ चले गये और अपनी दिव्य छवि मेरे मन में चिरस्थायी रूप से छोड़ गये। जिस आध्यात्मिक शक्ति का संचार उन्होंने धीरे धीरे मुझमें किया था और भक्ति तथा सेवा का जो रूप उनमें मैंने मद्रास एवं वाराणसी में रहते समय देखा था, वह सब अभी तक मेरे लिए प्रेरणादायक बना हुआ है और आज भी मुझे कृपाप्रसाद के रूप में अव्यक्त रीति से नया प्रकाश और नयी प्रेरणा प्रदान किया करता है। जैसे जैसे दिन बीत रहे हैं, मैं श्रीरामकृष्ण देव के इन अमूल्य शब्दों का महत्त्व समझ पा रहा हूँ कि भगवान् ही स्वयं गुरुरूप से आते हैं।

('वेदान्त एंड दि वेस्ट' क्र. १७९ से साभार)

●

सांसारिक कर्तव्य और आध्यात्मिक जीवन

स्वामी बुधानन्द

(१)

संसार की जनसंख्या का बहुलांश गृहस्थधर्मी है। उन्हें गृहस्थ के रूप में संसार में जो कर्तव्य करने पड़ते हैं, उन्हें सांसारिक कर्तव्य कहते हैं।

जो गृहस्थ गहराई से धर्म का पालन करना चाहते हैं, उन्हें सदैव ऐसी समस्या का सामना करना पड़ता है, जो दूसरों को नहीं करना पड़ता। समस्या यह है कि सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए आध्यात्मिक उन्नति कैसे करना। उनकी सांसारिक और आध्यात्मिक रुचियों को क्या समन्वित किया जा सकता है?

जो गृहस्थ आध्यात्मिक प्रगति करने के इच्छुक हैं, उन्हें सर्वत्र इस समस्या का सामना करना पड़ेगा, चाहे वे किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों। और उनकी आध्यात्मिक प्रगति इस पर निर्भर करेगी कि वे इस समस्या का उचित समाधान पा सकते हैं या नहीं, और यदि पाते हैं, तो उसे अपने जीवन में उतार सकते हैं या नहीं। हम इस समस्या के एक ऐसे समाधान पर विचार करना चाहते हैं, जो सभी धर्मों के उपासकों को समान रूप से ग्राह्य होगा।

ज्ञान और कर्म के किसी भी क्षेत्र में जीवन की किसी भी समस्या का हल प्राप्त करने के लिए सबसे

पहले आवश्यक बात है विचारार्थ विषय को जितनी स्पष्टता से हो प्रस्तुत करना। जब तक समस्या को उसके विचारार्थ विषय के साथ उचित रूप से पकड़ा न जा सकेगा, तब तक उसका ठीक ठीक समाधान कभी मिल नहीं सकेगा।

प्रस्तुत विषय यह है कि सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए आध्यात्मिक प्रगति कैसे करना। इससे विचारार्थ विषय के मुद्दे यों बनते हैं—

(१) लक्ष्य है आध्यात्मिक प्रगति।

(२) जिस बिन्दुपथ से आध्यात्मिक प्रगति की कामना की जाती है, वह जीवन की गृहस्थ की अवस्था है।

(३) जब जीवन की गृहस्थावस्था आध्यात्मिक प्रगति का बिन्दुपथ है, तो जो साधनाएँ अपनायी जायँगी, उन्हें इस अवस्था के अनुकूल होना होगा।

हम देखेंगे कि जब हम इन तीन विचारार्थ विषयों को स्पष्ट रूप से समझ लेंगे, तो समस्या का हल कितनी सरलता और अचूक रीति से हमें प्राप्त हो जाता है।

(अ) पहला विचारार्थ विषय यानी लक्ष्य है आध्यात्मिक प्रगति। आध्यात्मिक प्रगति करने का क्या अर्थ है? उसका तात्पर्य है बोध-प्राप्ति और आत्मा की मुक्ति के लिए ईश्वर की ओर गति—इससे ईश्वर से दूर जाने वाली गति का पार्थक्य सूचित होता है।

(ब) उसका अर्थ है कि तुमने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है कि ईश्वर है, और ईश्वर का साक्षात्कार ही मानवजीवन का चरम लक्ष्य है। और यह कि तुम्हें संसार में कर्तव्य के रूप में चाहे जो भी करना पड़े, उसी कर्म के माध्यम से तुम ईश्वर को पाना चाहते हो।

प्रथम विचारार्थ विषय के ये ही स्पष्ट अभिप्रेत अर्थ हैं। उसका एक महत्त्वपूर्ण उपसिद्धान्त भी है। वह यह है—

इसमें सन्देह नहीं कि एक धार्मिक व्यक्ति के रूप में तुम ईश्वर के अस्तित्व के तथ्य को स्वीकार करते हो; पर साथ ही, तुम स्वीकार नहीं भी करते हो। तुम सोचते हो—ईश्वर को बिना देखे मुझे उसमें विश्वास कैसे हो सकता है? क्या ऐसा करना युक्तिविरुद्ध नहीं होगा? क्या वह दुर्बल मस्तिष्क का परिचायक नहीं है? नहीं, यह दोनों भी नहीं है।

क्या तुमने परमाणु को देखा है? तुमने नही देखा। पर तुम विश्वास करते हो कि परमाणु का अस्तित्व है। तुम क्यों ऐसा विश्वास करते हो? इसलिए कि विज्ञान के द्रष्टाओं ने उसके अस्तित्व का निश्चय कर तुम्हें ऐसा बताया है। अब, तुम इस कामचलाऊ विश्वास के आधार पर प्रयोगशाला में जाकर प्रयोग कर सकते हो और स्वयं परमाणु के अस्तित्व के द्रष्टा बन सकते हो। यदि यह विज्ञान के क्षेत्र में जायज है, तो इसमें कोई तुक नहीं कि वह धर्म के क्षेत्र में जायज नहीं हो सकेगा। युग-युगान्तरों से कितने लोगों ने ईश्वर को देखा है और इसकी घोषणा

की है ! उनकी प्रामाणिकता पर तुम अपना कामचलाऊ विश्वास आधारित कर सकते हो। इस कामचलाऊ विश्वास के आधार पर तुम पहले ईश्वर के अन्वेषक बनो और अन्ततोगत्वा उसके दर्शक।

अतएव समस्त निरर्थक संशयों को निकल जाने दो और इस प्रथम विचारार्थ विषय को अपनी पक्की पकड़ में आने दो कि ईश्वर है और मानव-जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर की अनुभूति है तथा यह कि तुम उसी चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होना चाहते हो।

जिस प्रथम विचारार्थ विषय को तुमने अपनी पक्की पकड़ में ले लिया, उसे कोई डिगा न पाये इसका ख्याल रखो। दृढ़तापूर्वक तुम अपने इस विश्वास पर कायम रहो। जीवन के अपने गूढ़तम और पावन लक्ष्य को प्रचारित करने का प्रयोजन नहीं। अविश्वासियों के साथ सारे विवादों से बचकर रहो। तब हाथ में कुछ रहेगा और भटकाव की स्थिति नहीं रहेगी।

अब द्वितीय विचारार्थ विषय को समझने का प्रयास करें, जो कहता है—'जिस बिन्दुपथ से आध्यात्मिक प्रगति की कामना की जाती है, वह जीवन की गृहस्थ की अवस्था है।'

जब तुम इस तथ्य को स्वीकार कर लेते हो कि 'ईश्वर है,' तो जहाँ तक तुम्हारा प्रश्न है कुछ द्वन्द्वात्मक आशय तुरन्त खड़े होते हैं।

यदि ईश्वर है, तो विश्व का कोई भी पदार्थ—सुदूरतम तारे से लेकर मनुष्य के श्वास तक— इस तथ्य से

अछूता नहीं रह सकता। यदि ईश्वर है, तो वह अन्य किसी तथ्य या प्राणी द्वारा नहीं कटेगा। कहने का तात्पर्य यह कि वह केवल सर्वव्यापी ही नहीं, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान भी होगा।

यदि ईश्वर सर्वज्ञ है, तो उसके विवेक पर शंका नहीं की जा सकती। यदि वह सर्वशक्तिमान है, तो उसकी इच्छा को चुनौती नहीं दी जा सकती। यदि ऐसा है, तो विश्व में सारे पदार्थ इस सर्वशक्तिमान ईश्वर की विवेकयुक्त योजना के अनुसार ही अपने अपने स्थान पर स्थित हैं। अतएव यह युक्तियुक्त है कि तुम दैवी योजना के अनुसार ही गृहस्थ अवस्था में हो, और ईश्वर को पाने के लिए तुम्हारे लिए वही सबसे अनुकूल स्थिति है, क्योंकि ईश्वर के विवेक को चुनौती नहीं दी जा सकती। तुम्हें इस सत्य का पक्का विश्वास हो जाना चाहिए कि भगवान् को पाने के लिए गृहस्थ के रूप में तुम सर्वोत्तम अवस्था में हो। और तुम कदम वहीं से उठा सकते हो, जहाँ असल में तुम खड़े हो। और कदम भी तुम अपनी शक्ति के अनुसार ही उठा सकते हो।

ऐसा न सोचो कि हमारा यह कथन कि 'गृहस्थ के रूप में तुम ईश्वर की ओर जाने के लिए सबसे अच्छी अवस्था में हो,' मात्र इसलिए है कि तुम्हें सुनकर जरा अच्छा लगे। यद्यपि तुम्हें अच्छा लगे ऐसी सुविधा कर देना भी तुम्हारी एक अच्छी सेवा हो सकती है, पर वह हम अभी करने का प्रयास नहीं कर रहे हैं। यहाँ हम तुम्हारे

सामने यह रख रहे हैं कि जहाँ तक आध्यात्मिक खोज का प्रश्न है, विभिन्न हिन्दूशास्त्र जीवन में गृहस्थ के स्थान के सम्बन्ध में एकमत हो क्या कहते हैं।

हिन्दू समाज में सदैव से संन्यासी को सबकी सर्वोच्च श्रद्धा मिली है-- नृपतियों और पुरोहितों की भी। पर सभी स्मृतिकारों द्वारा गृहस्थ की गणना समाज के आधार के ही रूप में की गयी है और इसके पीछे खासे अच्छे तर्क हैं।

महाभारत महाकाव्य के शान्तिपर्व के प्रारम्भ में अर्जुन के ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर सब कुछ त्यागने की मनोदशा में दीख पड़ते हैं। जब द्रौपदी के वजनदार तर्क युधिष्ठिर को अपने निश्चय से पराङ्मुख नहीं कर सके, तो अर्जुन अपने अग्रज के इस अशोभनीय व्यवहार से खीज उठते हैं और उन्हें तरह तरह से समझाते हैं। दूसरे भी पारी पारी से युधिष्ठिर को समझाने की कोशिश करते हैं, पर अपने युक्ति-तर्कों के बावजूद वे युधिष्ठिर को नहीं समझा पाते। युधिष्ठिर में सदैव सत्त्व का आधिक्य बना रहता है और उनकी प्रवृत्ति निष्क्रियता की ओर रहती है।

अन्त में महर्षि व्यास आते हैं, जिनके विवेक में सभी की महान् श्रद्धा है। वे युधिष्ठिर के निश्चय के विरोध में अपने गम्भीर तर्क प्रस्तुत करते हैं और गृहस्थ के जीवन की महत्ता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं--

"... शास्त्रों द्वारा अनुमोदित सर्वोच्च धर्म गृहस्थ के कर्तव्य-कर्मों में है। देवता, पितर, अतिथि और सेवक ये सभी (अपने पोषण के लिए) गृहस्थ पर आश्रित हैं।

पशु-पक्षी और अन्य प्राणी गृहस्थों द्वारा अभिरक्षित होते हैं। अतएव जो गृहस्थ-धर्म का पालन करता है, वह सबसे श्रेष्ठ है। चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम सबसे कठिन है। इसलिए हे युधिष्ठिर! जिस आश्रम का पालन करना संयमहीन पुरुषों के लिए कठिन है, तुम उसका पालन करो।" (शान्तिपर्व, २३/२-६)

महर्षि व्यास का यह कथन समस्त स्मृतिकारों के मतैक्य का प्रतिनिधित्व करता है और यह सूचित करता है कि हिन्दू गृहस्थाश्रम को किस ऊँची नजर से देखता है। इसके साथ ही यह भी संकेत मिलता है कि व्यास के मतानुसार असंयत इन्द्रियों के साथ गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का पालन करना कठिन है। अतः शास्त्र की मनीषा के अनुसार तुम्हें यह विश्वास करना चाहिए कि गृहस्थ के रूप में तुम ईश्वर की ओर जाने के लिए सबसे सुविधापूर्ण स्थिति में हो। यही नहीं, बल्कि अपने तौर-तरीकों से आध्यात्मिक प्रगति करने के लिए तुम्हारे पास सर्वश्रेष्ठ उपकरण भी है। दूसरों की अवस्था या सम्पत्ति देखकर ईर्ष्या करने में कोई तुक नहीं है।

मालूम नहीं हमने कितनी बार न सोचा होगा कि हमारी अवस्था जरा भिन्न होती, तो हम कितने आगे बढ़ गये होते? यह सोचने का एक अत्यन्त उथला तरीका है, यह भ्रम है। प्रत्येक अवस्था का अपना काँटा और दाह हुआ करता है, हम वह सब नहीं जानते।

जर्मनी के प्रख्यात रहस्यवादी मीस्टर एकहार्ट से

किसी पुरोहित ने एक बार कहा था, 'काश ! आपका जीवात्मा मेरे शरीर में होता !" इस पर एकहार्ट ने उत्तर दिया था, "तब तो तुम यथार्थ में मूर्ख होते । उससे तुम कहीं के नहीं रहते । उससे उतना ही अल्प होता, जितना कि तुम्हारे जीवात्मा के मेरे शरीर में रहने से । उस शरीर को छोड़कर जिससे कि जीवात्मा संलग्न है, अन्य किसी शरीर के माध्यम से कुछ कर सकना उसके लिए असम्भव है।"

यह एक महान् सत्य है, जिसे हमें समझना और ध्यान में रखना चाहिए। तुम्हारे अपने आध्यात्मिक विकास के लिए तुम्हारे आत्मा ने सबसे अनुकूल शरीर की रचना की है । अतएव इस सम्बन्ध मे निस्सन्दिग्ध रहो कि शरीर और वातावरण दोनों की दृष्टि से तुम ईश्वर की ओर बढ़ने लायक सही स्थिति में हो, भले ही आपात् दृष्टि से यह स्थिति गलत या सम्भावनारहित प्रतीत होती हो । यदि तुम अपनी स्थिति को इस ढंग से स्वीकार नहीं करते, तो तुम ईश्वर के भक्त हो ही नहीं, क्योंकि तुम ईश्वर के ज्ञान पर संशय करते हो । यदि तुम ईश्वर के तथ्य को स्वीकार करते हो, तो ईश्वर के विवेक पर संशय करना कोई विवेकपूर्ण बात नहीं है। ईश्वर के भक्त के लिए, जहाँ तक उसका अपना सम्बन्ध है, जो है सो भले के लिए है,क्योंकि ईश्वर से भला के अलावा और कुछ आ ही नहीं सकता । और ईश्वर से ही सब कुछ आया है ।

इस कथन का तात्पर्य यह नहीं कि तुम अपनी स्थिति में सुधार नहीं कर सकते । वास्तव में तो तुम अपने

स्वभाव और परिस्थितियों द्वारा सतत यही करने की चुनौती पा रहे हो। पर तुम्हें यह जान लेना चाहिए कि यथार्थ में अपनी स्थिति का सुधार क्या है। अन्तिम विश्लेषण में, ईश्वर की ओर क्रमशः अग्रसर होना ही वास्तव में तुम्हारी स्थिति का सुधार है। अन्य किसी भी दिशा में गति केवल पीछे ही जाना है--ईश्वर से दूर चले जाना है।

अब चिन्ता इस बात की है कि जीवन की अपनी इस सही स्थिति से सही ढंग से सही दिशा में यानी ईश्वर की ओर कैसे बढ़ा जाय? यह हमें तृतीय विचारार्थ विषय पर लाकर खड़ा कर देता है--'जब जीवन की गृहस्थावस्था आध्यात्मिक प्रगति का बिन्दुपथ है, तो जो साधनाएँ अपनायी जायँगी, उन्हें इस अवस्था के अनुकूल होना होगा।'

(२)

इस मार्गदर्शन हेतु हम श्रीरामकृष्ण और माँ सारदा की ओर मुड़ते हैं। विश्व के महान् आचार्यों में वे ही ऐसे हैं, जो हमारे युग के सबसे नजदीक हैं। साथ ही आज के साधकों के जीवन में उनके उपदेशों की विशेष सार्थकता और व्यवहार्यता भी है। वे हमारी ही बैठकों में घूमे और इसलिए वे हमारे मन और हमारी समस्याओं को बहुत अच्छी तरह समझते थे। अतएव, उनके उपदेशों में ऐसी ताजगी और निकटता है कि वे तुरन्त हमारे हृदय को छू लेते हैं और हमारी परिस्थितियों पर लागू होते हैं।

'श्रीरामकृष्णवचनामृत' हजार पृष्ठों से भी अधिक का ग्रन्थ है। उसका अधिकांश गृहस्थ को यही उपदेश

देता है कि आध्यात्मिक जीवन यापन करने के लिए वह अपने सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह किस प्रकार करे। जहाँ तक हमें पता है, इस विषय पर आध्यात्मिक मार्गदर्शन के लिए श्रीरामकृष्ण को छोड़ प्रेरणा का और कोई श्रेष्ठ स्रोत नहीं है। साथ ही, माँ सारदा के अपूर्व जीवन को छोड़ ऐसा कोई श्रेष्ठ उदाहरण भी हमें उपलब्ध नहीं है, जहाँ सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए पूर्णता प्राप्त हो गयी हो।

श्रीरामकृष्ण तो औपचारिक रूप से संन्यासी बने भी, पर श्री माँ ने संसार का त्याग कभी नहीं किया। तथापि संसार में रहते हुए भी वे ज्ञान से दीप्त हुईं। और ज्ञानदीप्त होने पर भी वे गृहस्थ जीवन की सामान्य धारा से विलग नहीं हुईं। इससे उनका जीवन उन लोगों के लिए मार्गदर्शन और प्रेरणा का बहुमूल्य स्रोत है, जिन्हें विवश हो अपने सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए आध्यात्मिक जीवन यापन की साधना करनी पड़ती है।

ये सांसारिक कर्तव्य क्या हैं, जिनकी बात हम बहुत सुनते हैं? स्पष्ट है कि हमारे सांसारिक कर्तव्यों का जीवन के मूलभूत कर्तव्य के साथ बहुत नजदीक का सम्बन्ध होना चाहिए। और यह तो सामान्य बोध की बात है कि मानव-जीवन के इस मूलभूत कर्तव्य को जीवन के चरम लक्ष्य से सम्बन्धित होना चाहिए, जो कि प्रथम विचारार्थ विषय में ईश्वर की अनुभूति के रूप में स्वीकृत हो चुका है। जो भी बात व्यक्ति को इस चरम लक्ष्य से दूर ले जाती है, वह उसका कर्तव्य नहीं हो सकता, फिर

परम्परा या अन्धविश्वास चाहे जो दावा करे।

अत्यन्त सरल शब्दों में श्रीरामकृष्ण उपदेश देते हैं--"फिर मनुष्य का कर्तव्य है क्या ? दूसरा और हो भी क्या सकता है ? वह है ईश्वर की शरण जाना और उनसे दर्शन देने की आकुल प्रार्थना करना।"

यही वह मूलभूत कर्तव्य है, जिसकी धुरी पर अन्य सारे कर्तव्यों और महत्त्वाकांक्षाओं को, यदि चाहो तो, उपजना और घूमना चाहिए। अतः श्रीरामकृष्ण कहते हैं--

"इससे कुछ विशेष आता-जाता नहीं कि तुम परिवारवाले हो या नहीं। अपने कर्तव्यों का पालन सदैव अलग रहकर और अपने मन को ईश्वर में लगाये रखकर करो। उदाहरण के लिए, जिस मनुष्य की पीठ में व्रण है, वह अपने मित्रों और अन्य दूसरों के साथ बातचीत करता है, और कारोबार भी कर लेता है, पर उसका मन हर समय पीठ के दर्द पर रहता है।"

अपने सांसारिक कर्तव्यों के 'समुचित' निर्वाह के द्वारा ही इस मूलभूत कर्तव्य का पालन करना चाहिए। इस सन्दर्भ में 'समुचित' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अपने सांसारिक कर्तव्यों के सम्बन्ध में किसी को न तो अतिरंजित धारणा रहनी चाहिए, न विकृत और न अस्पष्ट। धर्मशास्त्रों और प्राचीन आचार्यों से पूर्णतः समरस होते हुए श्रीरामकृष्ण उपदेश देते हैं—

"...गृहस्थ को अपने कर्तव्यों का पालन करना होता है और देवऋण, पितृऋण, आचार्यऋण एवं अपनी

पत्नी तथा बच्चों के ऋण से उऋण होना पड़ता है। यदि पत्नी पतिव्रता है, तो पति को उसका पालन करना चाहिए; उसे अपने बच्चों का भी पालन-पोषण करना चाहिए, जब तक कि वे वयस्क नहीं हो जाते। केवल संन्यासी के लिए परिग्रह वर्जित है। पक्षी और संन्यासी कल के लिए बचाकर नहीं रखते। फिर भी जब चिड़िया बच्चे देती है, तो संग्रह करती है। वह अपनी चोंच में आहार ला अपने बच्चों को खिलाती है।"

संसार के सामान्य नर-नारियों के लिए, जिन्हें देह-बोध और संसार-बोध बना हुआ है,अपने जीवन के मूलभूत कर्तव्य की पूर्ति हेतु इसके अलावे और कोई उपाय नहीं कि वे अपने तात्कालिक और अनिवार्य सांसारिक कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करें। जो अपने कर्तव्य-कर्मों से परेशान होकर भद्दे ढंग से भागने की कोशिश करते हैं--इसलिए नहीं कि उन्हें ईश्वर से प्यार हो गया है बल्कि इसलिए कि वे जीवन-संघर्ष का सामना करने में अपने को अक्षम पाते हैं—वे अपने आध्यात्मिक जीवन को ठोस बुनियाद नहीं दे पाते। जो ऐसा सोचते हैं कि मेरे भीतर कुछ जिज्ञासा जगी है और इसलिए मुझे अपने सांसारिक कर्तव्यों की ओर दुर्लक्ष्य करने का एक प्रकार का प्रमाण-पत्र सा मिल गया है, वे स्पष्ट रूप से भ्रम में हैं।

ऐसी गलत विचारणाओं से तथा कभी कभी गलत व्यवहार से मनुष्य अपने ही विरोध में ऐसी शक्तियों को उभाड़ लेता है, जो उसकी सदिच्छाओं के लिए प्रभावी रूप

से बाधक सिद्ध होती हैं। वह अपनी धार्मिकता के जोश में आकर अपने नजदीकी आत्मीय-स्वजनों के प्रति ऐसी उपेक्षा बरतने लगता है कि उसकी पत्नी उसके विरोध में आकाश-पाताल एक कर देती है। तब वह समझ नहीं पाता कि अपने साथ, अपनी धार्मिकता के साथ और अपने परिवार-वालों के साथ वह क्या करे। उसे यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि यदि वह विवाहित है, तो अपने गार्हस्थ्य जीवन के मनोजगत् में आग लगाकर वह आध्यात्मिक जीवन में प्रगति नहीं कर सकेगा। उसे अपने परिवार के सदस्यों के अमूल्य सहयोग और सहायता की आवश्यकता है। अपनी आध्यात्मिक साधना में उसे यह सहयोग कैसे मिल सकता है, इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण एक कौशल बताते हैं-

"अपने कर्तव्य-कर्म करो, पर अपना मन भगवान् में रखो। माता, पिता, पत्नी, बच्चे सबके साथ रहो और सबकी सेवा करो। उनसे ऐसा व्यवहार करो मानो वे तुम्हारे अत्यन्त आत्मीय हैं, पर अपने हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में जानो कि वे तुम्हारे कोई नहीं हैं।...मादा कछुआ पानी में चलती-फिरती है, पर क्या तुम अन्दाज लगा सकते हो कि उसका मन कहाँ पड़ा है? वहाँ तीर पर, जहाँ उसने अण्डे दिये हैं। संसार में अपने सारे कर्तव्य करो, पर मन भगवान् में लगाकर रखो।"

गृहस्थ को उच्चतर जीवन की शान्तिपूर्ण और रचनात्मक साधना के लिए इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता मिलना कठिन ही है। 'वचनामृत' में श्रीरामकृष्ण की दो

व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो भर्त्सना है, वह हमारा ध्यान इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर केन्द्रित कर देती है। जब 'वचनामृत' के लेखक 'म' श्रीरामकृष्ण के पास दूसरी बार दक्षिणेश्वर पहुँचे, तो उन्होंने 'म' को कड़े शब्दों में संसार से पलायन करनेवाले उस भगेड़ू के सम्बन्ध में बताया, जो दक्षिणेश्वर में आश्रय लेने आया था--

"प्रताप का भाई यहाँ आया। कुछ दिन रहा। उसे करने को तो कुछ था नहीं, वह बोला कि यहाँ रहना चाहता है। मुझे पता चला कि वह अपने बीबी-बच्चों को अपने ससुर के पास छोड़ आया है। खासी पल्टन है उसकी ! मैंने उसे आड़े लिया। देखो तो सही, इतने बच्चों का बाप है ! क्या पड़ोस के लोग उन्हें खिलाएँगे और पोसेंगे ? उसे शर्म भी नहीं है कि कोई दूसरा उसके बीबी-बच्चों का पेट भर रहा है और वे सब उसकी ससुराल में पड़े हैं। मैंने उसे खूब लताड़ा और कहा कि कोई नौकरी ढूँढ़े। तब कहीं वह यहाँ से जाने को राजी हुआ।

श्रीरामकृष्ण के इस उपदेश का अभिप्राय यह है कि नौकरी ढूँढ़ना प्रताप के भाई के लिए केवल प्रमुख सांसारिक कर्तव्य ही नहीं है,बल्कि गृहस्थ के रूप में अपने तात्कालिक कर्तव्यों से सम्बन्धित इस स्वधर्म का पालन करना उसके आध्यात्मिक जीवन के लिए पहली सीढ़ी भी है।

('प्रबुद्ध भारत' से साभार) (क्रमशः)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) उचित दण्ड

एक बार प्रभु रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा, "बाहर जाकर देखो तो, शायद कोई दुखी प्राणी न्याय पाने की इच्छा से द्वार खटखटा रहा है।" लक्ष्मण ने जाकर देखा, तो उन्हें एक कुत्ता दिखायी दिया। वे उसे रामचन्द्र जी के पास ले आये। राजा राम ने उसके दुखी होने का कारण पूछा, तो वह कुत्ता बोला, "राजन्! स्वार्थसिद्धि नामक एक ब्राह्मण ने अकारण ही मुझ पर प्रहार किया है, इसलिए उसे दण्ड दिया जाय।" ब्राह्मण को राजा राम के सामने प्रस्तुत किया गया। वह बोला, "राजन्! मैं क्षुधित था। भूख के मारे मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था। सामने कुत्ते को बैठा देख मैंने उससे हटने कहा, किन्तु वह जब न हटा और वहीं बैठा रहा, तो मुझे क्रोध आया और मैंने उस पर प्रहार किया।"

राजा राम अपने सभासदों से बोले, "इस ब्राह्मण ने अपराध किया है इसलिए यह दण्डनीय है। आप ही बताएँ इसे क्या दण्ड दिया जाए ?" सभी सभासदों ने एक स्वर से कहा, "इस ब्राह्मण को दण्ड दिया जाना चाहिए, लेकिन ब्राह्मण तो अवध्य होता है, इसलिए कौनसा दण्ड दिया जाय, यह बताने में हम असमर्थ हैं। तथापि आप स्वयं परमात्मा के महान् अंश हैं, अतः उचित दण्ड तो आप ही दे सकते हैं।" रामचन्द्र जी पसोपेश में पड़ गये। इतने में कुत्ता बोला, "राजन्! मेरी इच्छा है कि

इस ब्राह्मण को कलिंजर का मठाधीश बना दिया जाय।" यह सुन सबको आश्चर्य हुआ, क्योंकि यह दण्ड नहीं इनाम जैसा था। इससे तो उस ब्राह्मण को भीख माँगने से मुक्ति मिल जाती और इसके विपरीत मठाधीश होने के कारण सारी सुख-सुविधाएँ प्राप्त होतीं। रामचन्द्र जी ने कुत्ते से ब्राह्मण को मठाधीश बनाने का प्रयोजन पूछा। कुत्ता बोला, "राजन्! मैं भी पिछले जन्म में कलिंजर का मठाधीश ही था। वहाँ मुझे बढ़िया बढ़िया पकवान खाने को मिलते थे। पूजा-पाठ और भगवत्-भजन में लीन रहने के बावजूद मुझे कुत्ते की योनि में जन्म लेना पड़ा। इसका कारण यही है कि मैं जिस धन का उपयोग करता था, वह मेरा नहीं वरन् मठ का होता था। जो व्यक्ति देवता, बालक, स्त्री और भिक्षुक आदि को अर्पित किय गये धनादि का उपयोग स्वयं करता है, वह नरकगामी होता है। यह ब्राह्मण लोभी होने के साथ साथ क्रोधी, हिंसक स्वभाववाला और मूर्ख भी है, इसलिए इसे मठाधीश बना देना ही उचित है।"

(२) विनम्रता का परिणाम

लंकाधीश रावण दिग्विजय करने निकला। उसके मार्ग में कुबेर नामक राजा का राज्य पड़ा। रावण ने उस पर चढ़ाई की, लेकिन सफलता न मिली। बात यह थी कि कुबेर 'असालिका' नामक विद्या में पारंगत था। इस विद्या के कारण वह अपने राज्य के चारों ओर अग्नि का कोट बना डालता था, फलस्वरूप उसे कोई जीत नहीं

सकता था और उसका राज्य अजेय बना हुआ था।

रावण निराश हो गया। इतने में उसके पास कुबेर की दासी आयी और बोली, "महाराज! आप इस राज्य पर विजय कभी पा नहीं सकेंगे, क्योंकि हमारे राजा 'असालिका' विद्या में पारंगत हैं, इसलिए उन्हें कोई हरा नहीं सकता। उन्हें हराने का एक ही उपाय है—रानी को अपनी ओर मिलाना, क्योंकि राजा ने यह विद्या उन्हें भी सिखा दी है। रानी ने आपके पास प्रस्ताव भेजा है कि यदि आप उन्हें अपनाकर अपनी रानी बनाएँ, तो वे आपको विजय दिला सकती हैं।" किन्तु रावण पहले नीतिमान और धर्मनिष्ठ था, उसने 'परस्त्री' कहकर उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

दासी की निराशमुद्रा देख विभीषण ने कारण पूछा, तो दासी ने सारा हाल कह सुनाया। विभीषण ने दासी से कहा, "जाओ, रानी से कहो कि विभीषण उन्हें अपनी भाभी बनाना चाहता है।" बात जब रावण को मालूम हुई, तो वह बहुत नाराज हुआ और उसने विभीषण से स्पष्टीकरण माँगा। विभीषण बोला, "आपको उसे सचमुच रानी नहीं बनाना है। यह तो एक राजनीतिक चाल है। हमें उस विद्या को सीखकर विजय प्राप्त करनी है।" बात रावण को जँच गयी।

भोली रानी ने विभीषण को विद्या का गुर बता दिया। वह मालूम होते ही विभीषण बोला, "आपको मैंने 'भाभी' कहकर पुकारा है। मैं नहीं चाहता कि मेरी

भाभी कोई निन्दनीय और गलत काम करें। आपको यदि मेरे भाई ने अपना भी लिया, तो आप उनकी उपपत्नी ही कहलाएँगी और आपको वहाँ यहाँ जैसा सम्मान नहीं मिलेगा।" यह बात रानी को जँच गयी।

कुबेर पराजित हुआ और उसे यह समझने में देर न लगी कि हार रानी के कारण हुई है, क्योंकि वह विद्या उसके अलावा और किसी को मालूम न थी। इतने में विभीषण उसके पास गया और उसे 'भैया' कहकर पुकारा। कुबेर सोचने लगा कि यह मेरे शत्रु का भाई होकर भी मुझे 'भाई' कहता है और एक मेरी पत्नी है, जो मेरी अपनी होकर मुझसे विश्वासघात करती है!

विभीषण बोला, "क्षमा करें, भैया! आपका व्यवहार भाभी के साथ अच्छा नहीं है। इस कारण वे आपसे असन्तुष्ट हैं। आपकी हार का कारण रानी नहीं, बल्कि आपका उनके साथ दुर्व्यवहार है। अतः आप अब इससे सबक लेकर उनके साथ अच्छा व्यवहार करें।"

विभीषण ने कुबेर को उसका राज्य पुनः दिला दिया, लेकिन विजय प्राप्त करने के लिए उसे शत्रु को 'भैया' और शत्रु-पत्नी को 'भाभी' कहना पड़ा।

(३) भाई का अपमान

दुर्योधन को किसी शत्रु द्वारा बन्दी बनाये जाने की खबर सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उन्होंने भीम से दुर्योधन को छुड़ा लाने को कहा। भीम इस आदेश को सुन नाराज हो गया, बोला, "भैया,

आप मुझे ऐसी आज्ञा दे रहे हैं, जो आपको ही शोभा देती है। आप मुझे उस पापी को छुड़ा लाने को कह रहे हैं, जिसके कारण हम आज इस विपदावस्था में हैं! जिस अधम ने न्याय-अन्याय, नीति-अनीति का विचार किये विना हमें कहीं का नहीं रख छोड़ा है, जिस पापात्मा ने अपनी भाभी द्रौपदी का भरी सभा में अपमान किया, है, उस नारकीय कीड़े के प्रति इतनी मोह-ममता रखते हुए आपको कुछ भी ग्लानि नहीं होती, धर्मराज!"

भीम के कटु और रोषभरे शब्द सुनकर युधिष्ठिर चुप हो गये और उन्होंने सिर नीचा कर लिया। अर्जुन भी वहाँ उपस्थित था। उसे यह समझने में देर न लगी कि युधिष्ठिर आन्तरिक वेदना से व्याकुल हैं। बिना कुछ बोले अपना गाण्डीव धनुष उठाकर वह वहाँ से चला गया और थोड़ी ही देर में उसने लौटकर दुर्योधन को मुक्त करने तथा शत्रु का वध करने की खबर युधिष्ठिर को सुनायी।

तब धर्मराज भीम से हँसकर बोले, "भैया! हमारा आपस में भले ही बैर हो, भले ही हम मतभेद और शत्रुता रखते हों, फिर भी संसार की दृष्टि में तो हम भाई-भाई ही हैं। बेशक कौरव १०० और हम पाण्डव ५ होने के कारण अलग-अलग हैं, लेकिन वास्तव में हम १०५ हैं। हममें से किसी एक का भी अपमान अन्य सभी १०४ लोगों का भी अपमान है और यह बात तुम नहीं, अर्जुन ही समझ सकता है।"

इस स्पष्टीकरण का भीम को कोई जवाब देते न बना।

(४) धर्म-पालन

महाभारत का युद्ध जारी था। भीष्म और द्रोणाचार्य का वध हो चुका था और सेनाध्यक्ष पद की बागडोर दुर्योधन ने कर्ण को सौंपी थी। उसके रण-कौशल के सामने पाण्डव-सेना के छक्के छूटने लगे। स्वयं अर्जुन भी हतोत्साहित हो गया था। किन्तु कर्ण का दुर्भाग्य कहिए, या परशुराम का श्राप, कर्ण के रथ का पहिया कीचड़ में धँस गया। यह देख कर्ण तत्काल रथ से कूदा और उसे निकालने की कोशिश करने लगा।

श्रीकृष्ण ने कर्ण की यह स्थिति देख अर्जुन को उस पर बाण-वर्षा जारी करने का इशारा किया। अर्जुन ने उनके निर्देशों का पालन किया, जिससे कर्ण बाणों के आघात को सहन कर सका। वह अर्जुन से बोला, 'महाधनुर्धर, थोड़ी देर रुक जाओ। क्या तुम्हें दिखायी नहीं देता कि मेरा ध्यान रथ का पहिया निकालने में जुटा हुआ है? क्या तुम नहीं जानते कि जो योद्धा रथविहीन हो, जिसके शस्त्र नष्ट हो गये हों या जो निहत्था हो, युद्ध रोकने की प्रार्थना कर रहा हो, ऐसे योद्धा पर युद्धधर्म के ज्ञाता और शूरवीर शस्त्र-प्रहार नहीं करते? इसलिए महाबाहो! जब तक मैं इस पहिए को न निकाल लूँ, मुझ पर प्रहार न करो क्योंकि यह धर्म के अनुकूल नहीं होगा।"

कर्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया यह उपदेश श्रीकृष्ण को शूल की तरह चुभा। वे कर्ण से बोले, "बड़े आश्चर्य

की बात है कि आज धर्म याद आ रहा है। सच है कि जब नीच मनुष्य विपत्ति में पड़ता है, तो उसे अपने कुकर्मों की याद तो नहीं आती, मगर दूसरों को धर्मोपदेश देने का विचार अवश्य आता है। उचित होता, तुमने अपने धूर्त कर्मों और पापों का विचार किया होता! हे महावीर कर्ण! जब दुर्योधन के साथ मिलकर तुमने पाण्डवों के लिए लाक्षागृह बनवाया, भीम को खत्म करने के इरादे से विष दिलवाया, तेरह वर्ष की अवधि समाप्त होने के बाद भी पाण्डवों को राज्य नहीं दिया, द्रौपदी का चीरहरण करवाया, निहत्थे अभिमन्यु को तुम्हारे समेत सात महारथियों ने मारा, तब तुम्हारा धर्म-ज्ञान कहाँ गया था ? क्या तुम्हें तब धर्म-पालन की विस्मृति हो गयी थी ?"

कर्ण को इसका उत्तर देते न बना। वह अर्जुन की बाण-वर्षा के सामने न टिक सका और धराशायी हो गया।

(५) भ्रातृ-प्रेम

वनवास के दौरान भटकते समय पाण्डवों को प्यास लगी। तब सहदेव पानी लेने तालाब की ओर गया। उसे न आता देख नकुल गया, किन्तु जब वह भी नहीं आया, तो क्रमशः अर्जुन और भीम गये। जब ये भी वापस न आये, तो स्वयं युधिष्ठिर गये। उन्होंने तालाब के पास अपने चारों भाइयों को मूर्छित अवस्था में पाया। उनके मुख में वे जलाशय का पानी डालने ही वाले थे कि अकस्मात् एक विशाल छाया सामने आयी और बोली, "इस तालाब का पानी पीने का अधिकारी वही है, जो मेरे प्रश्नों का उत्तर

दे सके।" इस पर युधिष्ठिर ने उस छाया से प्रश्न पूछने कहा। छाया ने प्रश्न किया--"उत्तम धर्म कौन सा है?"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया--"जो दुःख से छुटकारा दिलाये!"

दूसरा प्रश्न था--"अनुकरणीय मार्ग कौन सा है?"

उत्तर मिला--"जिस मार्ग से महापुरुष गये हैं।"

"आश्चर्य क्या है?"

"मृत्यु का विस्मरण।"

"सुख क्या है?"

"निराकुलता।"

सही उत्तर मिलने से छाया ने युधिष्ठिर को पानी पीने की अनुमति दे दी। किन्तु जब वे चारों भाइयों को पानी देने लगे, तो उसने युधिष्ठिर को रोका और कहा कि वे किसी एक को ही जिला सकते हैं। तब धर्मराज बोले, "तब तो मैं नकुल या सहदेव को ही जिलाऊँगा।" इस पर वह छाया, जो वास्तव में यक्ष था, ठहाका मारकर बोली, "धर्मराज, मैंने यह सुना था कि तुम मूर्ख हो और इस बात पर आज मुझे विश्वास हो गया। तुम जानते हो कि कौरवों से युद्ध किये बिना तुम्हें राज्य प्राप्त नहीं होगा और युद्ध में विजय की आशा तुम भीम या अर्जुन के द्वारा ही कर सकते हो। समझ में नहीं आता तुम नकुल या सहदेव को क्यों जिलाना चाहते हो, जबकि ये तुम्हारे किसी काम के नहीं हैं। सच है, जब मनुष्य विपत्ति में फँसता है, तो उसकी मति मारी जाती है।"

इस पर धर्मराज ने उत्तर दिया, "मैं भविष्य की बात नहीं सोचता और न ही मेरा ध्यान इस बात की ओर है कि आगे कौन मेरे काम आएगा! नकुल या सहदेव को जिलाने का कारण यह है कि इनकी माता माद्री का स्वर्गवास हो चुका है और अपनी माता कुन्ती का एक पुत्र, मैं जीवित हूँ ही। यदि मैं अर्जुन या भीम को जिलाऊँगा, तो लोग कहेंगे कि मैंने नकुल या सहदेव को सौतेले भाई होने के कारण ही जीवित नहीं किया।" उनका यह कहना समाप्त हुआ भी न था कि चारों भाई अँगड़ाई लेते हुए उठ गये।

●

भगवान् से जीव का इतना निकट सम्बन्ध है, जितना चुम्बक से लोहे का, परन्तु जीव का ईश्वर की ओर आकर्षण क्यों नहीं होता? जानते हो? लोहे में मोर्चा लगा रहता है, तो उसे चुम्बक नहीं खींचता। उसी प्रकार जीव में मायापंक लगा है, इसीलिए ईश्वर उसे अपनी ओर नहीं खींचते। लोहे का मोर्चा यदि जल से रगड़कर धो दिया जाय, तो चुम्बक उसे खींच लेता है। उसी प्रकार ईश्वर के प्रति निवेदन से जब मायारूप पंक धुल जाता है, तब जीव को भगवान् अपनी ओर खींच लेते हैं।

—— श्रीरामकृष्ण

रामानुज-दर्शन

ब्रह्मचारी दुर्गेश चैतन्य

हिन्दू संस्कृति में दर्शन केवल बौद्धिक विचार की प्रणाली नहीं है; वह तो सत्य की जीवन में अनुभूति तथा उसके व्यावहारिक आचरण का विवेचन है। हृदय की अनुभूति की तर्कसंगत व्याख्या हिन्दू दर्शन की प्रणाली है। डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि "दर्शन की जड़ें मनुष्य की व्यावहारिक आवश्यकताओं में है।"† मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धर्म का उद्भव हुआ तथा धार्मिक अनुभूति की तर्कपूर्ण व्याख्या के रूप में दर्शन का जन्म हुआ। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों की भाँति भारत में धर्म और दर्शन दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, अपितु एक ही सिक्के के दो पहलुओं की भाँति एक ही सत्य के दो पक्ष हैं।

ससार में व्यक्ति-व्यक्ति के स्वभाव तथा रुचि में भिन्नता पायी जाती है। इस वैभिन्न्य के कारण एक ही वस्तु कुछ व्यक्तियों को अनुकूल तथा कुछ को प्रतिकूल होती है। आहार-विहार, आचार-व्यवहार आदि सभी क्षेत्रों मे यह भिन्नता मनुष्य-जीवन को प्रभावित करती है। धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में भी मानव-स्वभाव की यह रुचि-भिन्नता बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अपने स्वभाव और रुचि के अनुकूल साधनाप्रणाली मनुष्य को शीघ्र ही गन्तव्य पर पहुँचा देती है। इसके विपरीत, प्रतिकूल साधना-प्रणाली उसके विकास की

---

†. Indian Philosophy, Vol. II, Page 659.

धारा को ही अवरुद्ध कर देती है।

रामानुज से शताब्दियों पूर्व भगवत्पाद शंकराचार्य नें वेदान्त की एक विशेष व्याख्या प्रस्तुत कर एक जीवन-दर्शन दिया। शंकराचार्य के अनुसार यह जगत् एक आभास मात्र है। इसकी वास्तविक कोई सत्ता नहीं है। जीव वास्तव में ब्रह्म ही है। ब्रह्म सर्वथा निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निरपेक्ष और उदासीन है। इस जीव-जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह न तो किसी भक्त की प्रार्थना सुनता है और न किसी पर करुणा करता है। उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। शंकर के लिए मुक्ति का अर्थ है अपने व्यक्तित्व को मिटा देना, अनन्त के महासागर में खो जाना।

पर जब तक हमारे मन में व्यक्तित्व का ब ध है, तब तक व्यक्तित्वहीन अमूर्त ब्रह्म की उपासना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। निर्गुण-निराकार ब्रह्म न तो हमारी पूजा ग्रहण कर सकता है और न ही हमारी उपासना और प्रेम का विषय हो सकता है। भक्त ईश्वर की पूजा और उपासना करना चाहता है, उससे निकटतम प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। दुर्बलता और विपत्ति के क्षणों में करुणामय ईश्वर की कृपा और आश्रय चाहता है। उसके प्रति समर्पित होकर माँ की गोद में रहनेवाले शिशु की भाँति निश्चिन्त और सुखी होना चाहता है। रामानुज का दर्शन हमारे जीवन की इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर हमें एक ऐसे ईश्वर के

सामने लाकर खड़ा कर देता है, जो हमारी प्रार्थना सुनता है, हमारी पूजा ग्रहण करता है, कष्ट और विपत्ति के क्षणों में हमारी सहायता कर हमें दुखों से मुक्त कर देता है। वह हमारा कर्ता-धर्ता और स्वामी है, हमारा सर्वस्व है। उसकी शरण में जाकर उसकी ही कृपा से जीव मुक्त हो जाता है।

विशिष्टाद्वैत नाम:--आचार्य शंकर के पश्चात् रामानुज ही वेदान्त के दूसरे मूर्धन्य भाष्यकार हैं। आचार्य शंकर के विपरीत वे ब्रह्म को जीव तथा जगत् की विशिष्टताओं से युक्त मानते हैं। किन्तु जगत् के मूल में सर्वोपरि सत्ता एक ब्रह्म या ईश्वर ही है। इसलिए उनका दर्शन विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। उनके मतानुसार ईश्वर सर्वथा स्वतंत्र और परिपूर्ण है। जीव तथा जगत् भी यथार्थ हैं, किन्तु वे पूर्णतः ईश्वर पर निर्भर हैं और उनकी यथार्थता ईश्वर के कारण ही है। इन विशिष्टताओं से युक्त होने के कारण ही ब्रह्म विशिष्टताओं से युक्त अद्वय सत्ता है।

ज्ञान के साधन:--आचार्य रामानुज के दर्शन को समझने के लिए उनकी ज्ञान सम्बन्धी धारणा को पहले समझ लेना आवश्यक है, जिसके कारण उनका दर्शन शंकर के अद्वैत से इतना भिन्न हो जाता है।

रामानुज प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों को ज्ञान का साधन मानतें हैं। वे निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष के भेद को भी स्वीकार करते हैं। जब

हमें किसी वस्तु का पहली बार प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तब उसे निर्विकल्प-प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस ज्ञान के साथ किसी पूर्व संस्कार का उदय नहीं होता। उदाहरणार्थ, जब कोई बच्चा पहली बार हाथी देखता है, तब उसे हाथी का ज्ञान तो होता है, पर मन में यह संस्कार नहीं उठता कि यह हाथी है, यद्यपि इस समय भी उसे हाथी का ज्ञान एक विशिष्ट वस्तु के रूप में ही होता है। यह निर्विकल्प-प्रत्यक्ष है। किन्तु जब वह दूसरी बार फिर किसी हाथी को देखता है, तब उसके मन में हाथी के पूर्व ज्ञान का संस्कार भी जागृत होता है और उसे बोध होता है कि यह भी एक हाथी है। अर्थात्, किसी वस्तु को पूर्व ज्ञान से संयुक्त करके देखना सविकल्प-प्रत्यक्ष कहलाता है।

सभी ज्ञान सत्य वस्तु का ही होता है:--रामानुज मानते हैं कि हमें भ्रम या मिथ्या वस्तु का कभी ज्ञान नहीं होता। सभी ज्ञान यथार्थ वस्तु का ही होता है। भ्रमज्ञान में केवल होता यह है कि एक वस्तु हमें दूसरी वस्तु के रूप दीख पड़ती है--'अन्यस्य अन्यथावभासः'; किन्तु ज्ञान के आधार के रूप में वह वस्तु होती अवश्य है। उदाहरणार्थ, जब हम सीपी को चाँदी समझ लेते हैं, तब सीपी में चाँदी का नितान्त अभाव नहीं रहता। आचार्य रामानुज कहते हैं कि संसार की सभी वस्तुएँ पंचभूतों से बनी हैं, अतः सीपी में चाँदी के अंश भी विद्यमान हैं, किन्तु अनुपात में उनकी मात्रा सीपी के भूत-संघातों से कम है। यदि सीपी में चाँदी का नितान्त

अभाव होता, तो हमें उसका ज्ञान हो ही नहीं सकता।

स्वप्न के दृश्यों और वस्तुओं को भी रामानुज सत्य मानते हैं। उनका मत है कि स्वप्न की वस्तुओं की रचना भी ईश्वर ही करते हैं, तथा जीव को उसके कर्मानुसार सुख-दुख आदि का भोग कराने के लिए ही स्वप्न की वस्तुओं की रचना होती है।

ज्ञान सम्बन्धी रामानुज की यह धारणा उनके दर्शन और साधना के लिए बड़ी उपयोगी है, क्योंकि रामानुज शंकराचार्य की भाँति जगत् को मिथ्या-प्रपंच नहीं मानते। उनके अनुसार यह जगत् ईश्वर का शरीर है और उसकी तरह ही सत्य है। इसका विस्तार हम आगे देखेंगे।

सृष्टि:--रामानुज कार्य-कारणवाद (सत्कार्यवाद) को मानते हैं। उनके मतानुसार उपनिषदों में सृष्टि-रचना का जो वर्णन है, वह अक्षरश: सत्य है। ईश्वर ने स्वयं अपनी इच्छा से जीवों को कर्मों का फल देने के लिए सृष्टि की रचना की है। ईश्वर में चित् और अचित् दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। उन्होंने स्वयं अपने भीतर से इस सृष्टि की रचना की है। अचित् प्रकृतितत्त्व है, जिससे भौतिक तत्त्वों की रचना हुई है। विशिष्टाद्वैत में प्रकृति सम्बन्धी धारणा सांख्य, अद्वैत आदि से भिन्न है। सांख्य की प्रकृति सम्बन्धी धारणा से उसकी भिन्नता देखकर हम उसे अधिक सहजता से समझ सकते हैं।

(१) रामानुज प्रकृति को अनादि (अजा) मानते हैं। सांख्य भी प्रकृति को अनादि मानता है, किन्तु साथ

ही वह उसे पुरुष से सर्वथा स्वतंत्र और भिन्न मानता है; जबकि रामानुज, इसके विपरीत, प्रकृति को ईश्वर के आधीन तथा उससे अभिन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रकृति ईश्वर की इच्छा से कार्य करती है तथा उसी के द्वारा संचालित होती है। सांख्य मत मे प्रकृति स्वयं सृष्टिकर्त्री है।

(२) सांख्य मत के अनुसार प्रकृति सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से मिलकर बनती है, अर्थात् वह इन गुणों का संघात-मात्र है। रामानुज के अनुसार, सत्त्व, रज और तम प्रकृति के विशेषण मात्र हैं, अतः अविभाज्य होकर भी प्रकृति उनसे भिन्न है।

प्रलयकाल में प्रकृति सूक्ष्म तथा अविभक्त रूप में रहती है। सृष्टि के समय सर्वशक्तिमान ईश्वर की इच्छा से वह तेज, जल तथा पृथ्वी तत्त्वों में विभाजित हो जाती है। इन तीनों तत्त्वों में क्रमशः सत्त्व, रज और तम गुण रहते हैं। इन तत्त्वों के अनन्त संयोग-संघात से सृष्टि की नानाविध वस्तुओं की रचना होती है।

ईश्वर अपनी मायाशक्ति के द्वारा इस जगत् की सृष्टि करता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर को मायावी कहा गया है।† रामानुज इसे अक्षरशः सत्य मानते हैं। यह माया ईश्वर की वह शक्ति है, जिसके द्वारा वह इस विचित्र संसार की सृष्टि करता है। रामानुज के

---

† मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥—४/१०

मतानुसार यह माया भी उतनी ही सत्य है, जितना कि ईश्वर। अतः माया द्वारा निर्मित सृष्टि भी ईश्वर के ही समान सत्य है। रामानुज शंकर के मायावाद का खण्डन करते हैं। वे माया को भ्रम या अनिर्वचनीय नहीं मानते। शंकर जहाँ विवर्तवाद को सृष्टि-रचना में सत्य मानते हैं, वहाँ रामानुज परिणामवाद को ठीक मानते हैं। इसलिए रामानुज यह सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि हमें सदैव सत्य वस्तु का ही ज्ञान होता है, मिथ्या का नहीं; अर्थात्, ज्ञान मात्र सत्य है।

नित्यविभूति या शुद्धसत्त्व रामानुज-दर्शन की अपनी अनूठी विशेषता है। रज और तम से मिश्रित साधारण सत्त्व सृष्टि के उपादान का कारण है। किन्तु रज और तम से सर्वथा रहित शुद्ध सत्त्व वह तत्त्व है, जिससे वैकुण्ठ आदि लोक निर्मित हुए हैं। इसी उपादान से दिव्य देह तथा दिव्य भोग्य वस्तुएँ आदि भी निर्मित होती हैं।

ब्रह्म या ईश्वरः— रामानुज की ईश्वर सम्बन्धी धारणा मनुष्य की धार्मिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। उनका ईश्वर जगत् से सर्वथा भिन्न, उदासीन और निर्गुण ब्रह्म नहीं है। गीता में वर्णित भगवान् का स्वरूप ही रामानुज का उपास्य करुणामय ईश्वर है।

रामानुज शंकराचार्य की भाँति ईश्वर या ब्रह्म को सर्वथा निर्विशेष और निर्गुण नहीं मानते। उनके मता-नुसार ईश्वर सदैव विशेषताओं से युक्त है। चित् (जीव)

और अचित् (प्रकृति) ईश्वर में सदैव विद्यमान रहते हैं।

रामानुज की दृष्टि में यह जीव-जगत् ईश्वर का शरीर है तथा ईश्वर उसका स्वामी है। शरीर और आत्मा का जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध जगत् और ईश्वर के बीच भी है।

वेदान्त तीन प्रकार के भेद स्वीकार करता है--
(१) विजातीय भेद--जैसे हाथी और घोड़ा,
(२) सजातीय भेद--जैसे एक घोड़े और दूसरे घोड़े में भेद,
(३) स्वगत भेद--जैसे एक ही घोड़े की पूँछ और कान में भेद।

रामानुज के अनुसार ब्रह्म में विजातीय और स्वजातीय भेद तो नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म के समान सजातीय या विजातीय कोई दूसरी वस्तु नहीं है, पर उसमें स्वगत भेद है, क्योंकि ब्रह्म में चित् और अचित् दोनों अंश विद्यमान हैं, जो परस्पर भिन्न स्वभाव के हैं। शङ्कराचार्य ब्रह्म को इन भेदों से सर्वथा रहित मानते हैं।

रामानुज के मत में ब्रह्म या ईश्वर अनन्त गुणों का आगार है। वह सर्वज्ञ, सृष्टि एवं प्रलय कर्ता और परम कृपालु है। ब्रह्म सगुण है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में ब्रह्म को जहाँ निर्गुण कहा गया है, उसका यही तात्पर्य है कि उसमें जीवों की तरह राग-द्वेषादि हेय गुण नहीं हैं।

ईश्वर सृष्टिकर्ता है, प्रलय अवस्था में जब भौतिक जगत् तिरोहित हो जाता है, तब चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) ईश्वर में सूक्ष्म बीज रूप में विद्यमान

रहते हैं। इस शुद्ध चित् और अव्यक्त अचित् से युक्त ब्रह्म को 'कारण ब्रह्म' कहते हैं।

रामानुज के उपास्य ईश्वर विशिष्टताओं से युक्त एक परम पुरुष हैं, जो सृष्टि के कर्ता, धर्ता और भर्ता हैं। वे करुणा के अगाध सागर और अनन्त गुणों के भण्डार हैं। वे भक्तों की प्रार्थना सुनते हैं, उनकी पूजा ग्रहण करते हैं तथा उन पर कृपा कर उन्हें दुख-कष्टों से मुक्त कर देते हैं।

जीव:--शंकराचार्य से विपरीत, रामानुज जीव को ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हैं। सांख्यवादियों की भाँति वे भी वहुजीववाद में विश्वास करते हैं। उनके मत में जीव असंख्य हैं।

जीव देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण है। वह अनन्त आनन्दस्वरूप, अणु, नित्य, अव्यक्त, अवयवरहित तथा निर्विकार है। वह ज्ञान का आश्रय तथा चित् है। वह हृदयकमल में अणु रूप में विद्यमान रहता है।† जीव में शेषत्व का एक विशेष गुण माना गया है, जिसका तात्पर्य है कि जीव अपने क्रिया-कलापों के लिए सर्वथा ईश्वर पर निर्भर है। ईश्वर की कृपा विना जीव अपने कर्तव्यों का पालन सुचारु रूप से नहीं कर सकता। जन्म-मृत्यु की क्रियाओं का जीव पर प्रभाव

---

† वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥
—श्वेताश्वतर उप०, ५/९

नहीं पड़ता और वह अपरिवर्तित रहता है। जीव या आत्मा एक सक्रिय कर्ता भी है। जीव को ब्रह्म का अंश कहा गया है। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं रह सकता। जीवात्माओं तथा ईश्वर के बीच राजा और प्रजा के समान सम्बन्ध है। सभी जीव सर्वथा ईश्वर के आधीन हैं। इतना होते हुए भी जीव (मनुष्य देह में) कर्म करने में स्वतंत्र है। उसे पाप या पुण्य कर्म करने की शक्ति प्राप्त है। अपने कर्मों के अनुसार वह ईश्वर से शुभ या अशुभ फल प्राप्त करता है। ईश्वर अपनी इच्छा से किसी मनुष्य से पाप या पुण्य नहीं करवाता।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव तीन कोटि के माने गये हैं:--

(१) नित्य:--वे जीव, जो कर्म तथा प्रकृति से सर्वथा पृथक् एवं स्वतन्त्र हैं। ये वैकुण्ठ में श्रीनारायण के सान्निध्य में रहकर उनकी सेवा करते हैं और सतत आनन्द का उपभोग करते हैं।

(२) मुक्त:--मुक्त जीव वे हैं, जो अपने शुभ कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि के द्वारा ईश्वर की कृपा से मुक्त हो गये हैं।

(३) बद्ध:--बद्ध जीव वे हैं, जो अपने अज्ञान, पाप आदि के द्वारा निरन्तर संसारचक्र में घूमते रहते हैं तथा नाना योनियों में भटकते हुए कष्ट पाते हैं।

यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि रामानुज के

अनुसार आत्मा किसी भी अवस्था में बिना शरीर के नहीं रह सकता। मुक्त अवस्था में भी आत्मा को शरीर प्राप्त होता है, किन्तु वह शरीर प्राकृत न होकर शुद्ध सत्त्व द्वारा निर्मित होता है। इस शुद्ध सत्त्व को ही नित्य त्रिभूति कहते हैं। शुद्ध सत्त्व द्वारा निर्मित शरीर धारण कर जीव सदैव भगवान् की सेवा में ही संलग्न रहता है।

कर्म ही बन्धन का कारणः--कर्म के कारण ही आत्मा बन्धन में पड़कर शरीर प्राप्त करता है। रामानुज के मत में यद्यपि आत्मा अणु माना गया है, तथापि जिस प्रकार एक छोटा सा दीपक सम्पूर्ण कक्ष को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार हृदयस्थ अणु आत्मा सारे शरीर को चैतन्यवान् कर देता है। अज्ञान के कारण उस चैतन्यवान् शरीर को ही आत्मा अपना स्वरूप समझने लगता है। अनात्म-वस्तु में आत्मबुद्धि कर लेना ही अहंकार कहा जाता है और यही अविद्या है।

मोक्षः--चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों की भाँति रामानुज के दर्शन का भी प्रयोजन मोक्ष ही है। यही मानवजीवन का लक्ष्य और उसकी सार्थकता है। मानवजीवन सीमित है, किन्तु मनुष्य के भीतर असीम क्षमताएँ निहित हैं। अज्ञान के कारण हमारी असीम क्षमताएँ कुण्ठित और अविकसित रह जाती हैं। यही बन्धन की स्थिति है। इस बन्धन से मुक्त होकर ससीम से असीम हो जाना ही मुक्ति है।

शंकराचार्य के अनुसार मुक्ति की अवस्था में जीव

अपना जीवत्व (व्यक्तित्व) त्यागकर ब्रह्म से ऐक्य प्राप्त कर लेता है। उस अवस्था में जीव का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है। किन्तु रामानुज इसे स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं, मुक्ति की अवस्था में जीव ब्रह्म में विलीन नहीं होता, किन्तु उसकी क्षुद्र सीमाएँ नष्ट हो जाती हैं तथा वह असीम और सर्वज्ञ हो जाता है। मुक्ति की अवस्था में उसकी प्रज्ञा का चरम विकास हो जाता है। मुक्ति एक अबाधित परिपूर्ण आनन्द की अवस्था है। इस अवस्था में जीव के हृदय में ईश्वरानुभूति निरन्तर बनी रहती है तथा वह सतत ईश्वर के सान्निध्य और सेवा में संलग्न रहता है। कैंकर्य (सेवा-निरत रहने) का भाव ही रामानुज के अनुसार मुक्ति का चरम आदर्श है। वे सदेह-मुक्ति (जीवन-मुक्ति) की अवस्था को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार देहत्याग के बाद ही मुक्ति सम्भव है। मुक्त आत्माएँ संकल्प मात्र से शरीर धारण कर ले सकती हैं, पर उनका यह शरीर कर्मजन्य न होने से बन्धन का कारण नहीं होता।

(क्रमशः)

ममता तरुन तमी अँधिआरी

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

गोस्वामीजी ने जहाँ ज्ञानदीपक का वर्णन किया है, वहाँ यह बताया है कि ममता का नाश सबसे अन्त में होता है। वे लिखते हैं——

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।
जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा।
जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई।
भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा।
निर्मल मन अहीर निज दासा॥
परम धर्ममय पय दुहि भाई।
अवटै अनल अकाम बनाई॥
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै।
धृति सम जावनु देइ जमावै॥
मुदिताँ मथै बिचार मथानी।
दम अधार रजु सत्य सुबानी॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता।
बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥

——७/११६/९-१६

——सर्वप्रथम आवश्यक है कि प्रभु की कृपा से श्रद्धारूपी गौ हृदय में आये। फिर जप, तप, व्रत, नियम आदि

शुभ आचाररूपी तृणों को वह गौ चरे। आस्तिकतारूपी बछड़े को पाकर पन्हावे। फिर अपना निर्मल मनरूपी ग्वाला उसे निवृत्तिरूपी नोई से बांध विश्वासरूपी पात्र ले उससे धर्मरूपी दूध निकाले। उस दूध को निष्कामता की अग्नि में औंटाया जाय और क्षमा-सन्तोषरूपी वायु से ठण्डा किया जाय। फिर धैर्य और शमरूपी जामन डालकर वह दूध जमाया जाय। और तब मुदितारूपी बर्तन में उसे रखकर तत्त्व की मथानी ले दमरूपी खम्भे का आधार बना सुन्दर वाणीरूपी रस्सी के सहारे मथा जाय, तब कहीं जाकर निर्मल पवित्र वैराग्यरूपी मक्खन प्राप्त होता है।

किसी ने गोस्वामीजी से पूछ दिया——"बड़ा कठिन उपाय बतलाया, महाराज आपने। बड़े परिश्रम के बाद मक्खन निकलवाया है। अब तो कुछ नहीं करना है न?" गोस्वामीजी ने कहा——"वैराग्यरूपी मक्खन तो सुन्दर निकला है, पर उसमें ममतारूपी मल अभी रह गया है। भले बाहरी मल न हो, पर उसमें दही की खटास अभी विद्यमान है। उसे दूर करने के लिए मक्खन को आग में पकाना पड़ेगा, तब कहीं जाकर ममतारूपी मल दूर होगा——

जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जर जाइ॥"

——७/११७ (क)

इतनी साधना के पश्चात् तो वैराग्य की प्राप्ति हुई, फिर भी ममतारूपी मल अवशिष्ट रह ही गया। कितना कठिन है इस ममता का परित्याग! सूरदास ने भी तो

कहा है—'ममता तू न गई मोरे मन तें !' ममता का दूर होना कोई साधारण बात नहीं है। मक्खन में जिस प्रकार खटास विद्यमान रहती है, वैराग्य की प्राप्ति के बाद भी यह ममतारूपी खटास जाती नहीं। मैं और मेरेपन का संस्कार भले दिखायी न दे, पर सूक्ष्म रूप से अन्तःकरण में बना ही रहता है। कैकेयीजी के अन्तःकरण में यही ममता विद्यमान थी कि राम मुझसे चाहे जितना भी प्रेम क्यों न करें, वे मेरे अपने तो हैं नहीं, पराये ही हैं।

कौसल्या, कैकेयी और सुमित्रा अम्बा में बड़ा अन्तर है। कौसल्या अम्बा ज्ञानमयी हैं। जब उन्हें राघवेन्द्र के वनगमन का समाचार मिला, तो वे व्याकुल हो उठीं। उन्होंने श्रीराम से कहा—"राघवेन्द्र ! तुमने मेरे गर्भ से जन्म लेकर बड़ी भूल कर दी। तुम्हें इस संसार में आना ही था, तो कैकेयी के गर्भ से जन्म लेते। तब तुम्हें इतना कष्ट नहीं उठाना पड़ता।"

भगवान् राम कैकेयी जी के गर्भ से जन्म लें इसमें कौसल्या जी को कोई आपत्ति नहीं। उन्हें श्रीराम और भरत में कोई भेद नहीं दिखता। यह ज्ञान का, समत्व का स्वभाव है। पर कैकेयी जी की दृष्टि क्या है ? --यह कि राम मेरे पुत्र हों। संसार के लोग कहें कि मैं राम की माँ हूँ। और, सुमित्रा अम्बा का प्रेम तो सबसे महान् है, अद्वितीय है। उनके प्रेम में कहीं भी न्यूनता नहीं। प्रभु जब वन जाने को प्रस्तुत हुए, तो लक्ष्मण जी से कहा-- लक्ष्मण, जाकर माँ से आज्ञा प्राप्त कर लो। प्रभु ने सोचा

कि लक्ष्मण तो महान् प्रेमी है ही, पर इसे भी पता लग जाय कि जिन्हें यह छोड़कर जा रहा है, वे कहीं बढ़कर प्रेमी हैं। लक्ष्मण ने कहा था न--

गुर पितु मातु न जानउँ काहू ।--२/७१/४

प्रभु ने मानो कहा कि तुम्हें गुरु और पिता से तो आज्ञा लेने नहीं कहेंगे, पर हाँ, माँ से जरूर मिल आओ। जब लक्ष्मण जी सुमित्रा अम्बा के पास पहुँचे, तो माता को मालूम नहीं हुआ था कि राम वन को जा रहे हैं। लक्ष्मण को देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि इसकी आँखों में आँसू कैसे ? आज तो जीवन की सबसे बड़ी प्रसन्नता की घड़ी है। आज राम को राज्य मिलनेवाला है। लक्ष्मण के लिए इससे बढ़कर आनन्द की बात और क्या हो सकती है ? पर इसकी आँखों म आँसू ? उन्होंने तुरन्त कहा--"लक्ष्मण, ऐसी प्रसन्नता की घड़ी में तुम उदास हो ? क्या बात है ?" लक्ष्मण जी ने सारी घटना कह सुनायी। सुनते ही सुमित्रा अम्बा की आँखों से आँसू झरने लगे। उनके आँसू देख लक्ष्मण जी को चिन्ता हो गयी--

एहिं सनेह बस करब अकाजू ।।--२/७२/७

--ये स्नेहवश कहीं काम न बिगाड़ दें। मैं तो इनसे आज्ञा लेने आया हूँ और ये आँसू बहा रही हैं। ये तो ममता के आँसू हैं, कहीं मुझे बाँध न लें। पर सुमित्रा अम्बा कम न थीं। अगर लक्ष्मण जी ममत्वहीन थे, तो सुमित्रा अम्बा परम वैराग्यमयी थीं। सारी बातें लक्ष्मण

जी से सुनकर सुमित्रा अम्बा बोल उठीं--"लक्ष्मण, लगता है तुममें कुछ कमी रह गयी है। राघवेन्द्र वन को जा रहे हैं, तो तुम यहाँ कैसे ?"

लक्ष्मण जी ने कहा--"माँ, प्रभु ने मुझसे कहा है कि जाकर माँ से वन जाने की आज्ञा माँग आओ।"

सुमित्रा अम्बा बोलीं--"और तुम चले आये ? फिर तुम्हारा यह कथन कि मैं माँ को नहीं मानता--'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू'--कहाँ तक सिद्ध हुआ ? माँ को मानते भी नहीं और आज्ञा लेने चले आये !" लक्ष्मण जी बड़े सकपकाये। उन्हें कोई उत्तर न सूझ पड़ा।

माँ पुनः बोलीं--"बताओ, अगर मैं आज्ञा न दूँ, तो तुम क्या करोगे ? रहोगे या जाओगे ? यदि तुम पहले ही निश्चय कर चुके हो कि आज्ञा मिले या न मिले, मुझे तो जाना ही है, तब फिर यहाँ तुम्हारे आने का कोई अर्थ नहीं रह जाता; और यदि बोलो कि आप अगर आज्ञा नहीं देती हैं,तो मैं रुक जाऊँगा, तब तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं कि मैं माँ को नहीं मानता। दोनों में से तो एक ही बात ठीक हो सकती है न ?"

लक्ष्मण जी निरुत्तर हो गये। उन्हें पहली बार यह अनुभव हुआ कि मेरी भक्ति-साधना में अभी भी कुछ कमी है।

एक कथा आती है--राँका-बाँका दम्पति की, जिनके बारे में कहा जाता है कि पति-पत्नी दोनों ही परम वैराग्यवान थे। जीवन में भोग की तनिक भी आकांक्षा नहीं

थी। जंगल से लकड़ी काटकर किसी प्रकार जीविका चलाते। एक दिन पति राँका को रास्ते में हीरा दिख गया। उन्हें चिन्ता हो आयी--कहीं बाँका के मन में हीरा देख लोभ न आ जाय। वे तुरन्त मिट्टी खोदकर उससे हीरे को ढँकने लगे। इतने में बाँका आ पहुँचीं। पति को मिट्टी ढँकते देख पूछ उठीं--यह क्या कर रहे हैं ? अब राँका असत्य कैसे बोलें ? कहना पड़ा--रास्ते में हीरा पड़ा मिला। मैंने सोचा कहीं तुम्हारे मन में लोभ न आ जाय इसलिए इसे ढँक रहा हूँ। तुरन्त राँका ने कहा--अरे, हीरा भी आखिर मिट्टी ही है। मिट्टी को मिट्टी से ढँक रहे हैं ? अभी भी हीरे का मूल्य आपके मन में बना हुआ है ?

राँका ने स्वीकार किया--हाँ, सचमुच में मेरे अन्दर यह वृत्ति विद्यमान थी कि हीरा मूल्यवान होता है। भले ही मैं हीरे का त्याग कर रहा था, पर उसके मूल्य का भान मुझे बना ही हुआ था। तुमने मेरी आँखें खोल दीं।

'रामचरितमानस' में गोस्वामीजी ने लिखा है कि त्याग पूर्ण तभी होता है, जब त्याग करने के पूर्व त्याग की जानेवाली वस्तु के प्रति महत्त्व-बुद्धि का त्याग हो जाय। यदि कोई व्यक्ति लाख रुपयों का त्याग कर बाद में बार बार यह कहता फिरे कि मैंने लाख रुपये छोड़ दिये, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि रुपयों के प्रति उसकी महत्त्व-बुद्धि अभी भी विद्यमान है, और इसलिए यह भय बना रहेगा कि वह भले ही लाख रुपये छोड़

आया हो, पर करोड़ों का प्रलोभन मिलने पर वह पिघल भी सकता है। इसलिए त्याग कैसा होना चाहिए इस पर गोस्वामी जी लिखते हैं--

सुमिरत रामहि तजहिं जन तृन सम बिषय बिलासु।
--२/१४०

--रास्ता चलते हमारे पैरों-तले न जाने कितने तिनके लगते हैं, पर क्या हम लोगों से कहते फिरते हैं कि हमने हजारों तिनकों का त्याग कर दिया ? हमारे लिए तृण इतने उपेक्षित हैं कि उनका त्याग हमारे लिए कोई अर्थ ही नहीं रखता। इसी प्रकार जब वस्तु को तृणस्वरूप समझकर उसका त्याग होगा, तभी सही त्याग होगा। गोस्वामी जी एक और उदाहरण देते हैं--

रमा बिलासु राम अनुरागो।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥ --२/३२३/८

--जैसे किसी को वमन हो जाता है, तो अन्दर का सारा खाया पदार्थ बाहर निकल आता है। अब यदि कोई व्यक्ति सबको यह दिखाता फिरे कि देखो मैंने सब बाहर निकाल दिया, त्याग कर दिया, तो उससे बढ़कर वज्रमूर्ख दूसरा कौन होगा ? वमन होता है, तो उसे ढँको। इसी प्रकार जो सच्चे त्यागी हैं, उनकी भावना यह रहती है कि हमने वस्तु का त्याग इसलिए किया है कि वह त्यागने योग्य ही है। उनमें दिखाने की भावना नहीं रहती।

इसलिए सुमित्रा अम्बा कहती हैं--लक्ष्मण, मुझे तुम्हारी भक्ति में न्यूनता दीख पड़ रही है। लक्ष्मण जी

बोले—माँ, मैं आखिर करता क्या ? क्या प्रभु की बात टाल देता ?

तुरत माँ ने कहा—टालने की बात ही नहीं थी। राघवेन्द्र ने जब कहा कि माँ से आज्ञा ले आओ, तो तुम्हें इतनी दूर आने की जरूरत न थी। तुम्हारी माँ तो वहीं थी--

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता रामु सब भांति सनेही ॥ --२/७३/२

सुमित्रा अम्बा ने बड़ा सुन्दर शब्द चुना। उन्होंने कहा--तुम्हारी माता तो वैदेही हैं। इसमें व्यंग्य यह था कि लक्ष्मण, वैदेही के पुत्र होकर तुमने इस देह को माता मान लिया इसका मुझे दुख है। फिर वैदेही तो विदेह की पुत्री हैं। भले ही उनका जन्म पृथ्वी से हुआ हो, पर विदेह ने उन्हें अपनी पुत्री माना। इसीलिए वे जानकी और वैदेही कहलायीं। इसी प्रकार भले ही मैंने, जो कि पृथ्वी की भाँति जड़स्वरूप हूँ, तुम्हें जन्म दिया हो, पर तुम्हारी माता तो साक्षात् चैतन्यमयी सीता हैं। उन वैदेही को छोड़ तुम मेरे पास चले आये ? बड़ी भूल कर दी तुमने। तुम्हें तो उन्हीं से आज्ञा ले लेनी थी।

अब आप अन्तर देखिए। कैकेयी जी के मन की वृत्ति यह है कि राम अच्छे हैं, पर वे मेरे बनें। और सुमित्रा अम्बा अपने पुत्र से कहती हैं--मुझे माँ मत जानो, तुम्हारी माँ वैदेही है। और आगे चलकर वे एक मीठी बात कहती हैं--

पुत्रवती जुबती जग सोई ।
रघुपति भगतु जासु सुत होई ।। --२/७४/१

--लक्ष्मण, तुम जैसा पुत्र पाकर मैं धन्य हो गयी । यह कैसा विरोधाभास ? एक ओर तो वे लक्ष्मण से कहती हैं--मुझे माँ मत जानो--'तात तुम्हारि मातु बैदेही'--और दूसरी ओर कहती हैं--मैं तुम्हें पुत्र रूप में पाकर धन्य हो गयी । यह कैसी बात !

सुमित्रा अम्बा ने इसके द्वारा धर्मसार और भक्तिसार दोनों की व्याख्या कर दी । उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा--लक्ष्मण, हमारी तुम्हारी नियति अलग अलग है । तुम्हारा कल्याण इसमें है कि तुम वैदेही को माता मानो, मुझे माता न मानो । और मेरा कल्याण इसमें है कि मैं तुमको अपना पुत्र जानूँ । तुमने अगर मुझे अपनी माता मान लिया, तो मैं तुम्हारे लिए व्यवधानस्वरूप बन जाऊँगी । मेरी आज्ञा का उल्लंघन करना तुम्हारे लिए कठिन हो जायगा । और तुमसे नाता जोड़ने पर मुझे यह सोचकर सुख मिलेगा कि एक भक्त मेरा पुत्र है । इस नाते फिर भगवान् से मेरा नाता जुड़ जायगा । सुमित्रा अम्बा कहती हैं--

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ ।।
--२/७४

--हे पुत्र ! मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ । तुम्हारे साथ अपने को भी परम सौभाग्य की पात्र मानती हूँ, क्योंकि तुम्हारे मन ने सब छल छोड़ श्रीराम के चरणों में स्थान

प्राप्त किया है।

सुमित्रा अम्बा का तात्पर्य यह था कि यदि कोई वस्तु किसी पात्र में रखी गयी हो, तो वह वस्तु पात्र की नहीं हो जाती। पात्र की विशिष्टता मात्र इतनी है कि उसने वस्तु को अपने में स्थान दिया है। मुझे यह सोच-कर प्रसन्नता है कि मैंने तुम्हें अपने में एक पात्र की भाँति रखने का सौभाग्य प्राप्त किया है। वस्तुतः मैं तुम्हारी माँ नहीं हूँ। तुम्हारी माँ तो जानकी है। मैं भले तुम्हें याद करती रहूँ, पर तुम मुझे भुला देना।

और हुआ भी यही। लक्ष्मण जी ने ऐसी निष्ठा से माँ के इस आदेश का पालन किया कि—

छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु॥

—२/१३९

——सपने में भी किसी की याद न रही——न भाई की, न माँ की और न पिता की ही। उनकी दृष्टि सदा श्री सीताजी और भगवान् राम के चरणों में ही रही। सुमित्रा अम्बा ने जब यह कहा था कि वैदेही तुम्हारी माता है, तो उनका संकेत यह था कि लक्ष्मण, देह को माता मानने से हानि ही हानि है। देह की तो एक दिन मृत्यु हो जायगी और तब मातृस्नेह से वंचित रहना पड़ जायगा। पर वैदेही जैसी माता मिलने पर न तो देह के नष्ट होने का भय होगा और न वात्सल्य-रस से च्युत होने का। उन्होंने जब यह कहा कि राम जैसे स्नेही तुम्हारे पिता

हैं, तो अर्थ यह था कि एक तुम्हारे पिता दशरथ हैं, जिन्होंने राम का, पुत्र का परित्याग कर दिया, पर राम ऐसे पिता हैं, जो पुत्र का, जीव का कभी परित्याग नहीं करते। ऐसे पिता को प्राप्त कर अन्य किसी को पिता मानने की आवश्यकता नहीं। और सचमुच में लक्ष्मणजी इन माता-पिता की सेवा में ऐसे रम गये कि उन्हें किसी का स्मरण नहीं रहा। इस प्रसंग में मुझे 'गीतावली' की एक बात याद आती है--

एक दिन भगवान् राम और जानकीजी बैठे हुए थे। सामने लताओं और वृक्षों के द्वारा एक सुन्दर मण्डप सा निर्मित हो गया था। इस सुन्दर दृश्य को देख भगवान् राम ने कहा--"सीते! देखो कितना भाग्यशाली है यह वृक्ष, जिसे लता नें अपनी प्रेमभरी भुजाओं से चारों ओर से वेष्टित कर रखा है। ऐसी प्रेममयी लता को पाकर वृक्ष धन्य हो गया है।" श्री जानकी जी ने कहा--"प्रभो! पर मैं ऐसा नहीं मानती। मुझे तो लगता है कि सौभाग्य-शालिनी तो लता है। अगर वृक्ष ने उसे आश्रय न दिया होता, तो न जाने वह कहाँ पड़ी होती। यह तो वृक्ष की कृपा है, जिसने लता को अपनी भुजाओं का आश्रय दे ऊपर उठा लिया है।" इस प्रकार प्रेमपूर्ण तर्क-वितर्क चलता रहा। वास्तव में लता और वृक्ष तो प्रतीक थे। भगवान् राम का तात्पर्य यह था कि सीते, तुम्हारा प्रेम पा मैं धन्य हो गया, परम भाग्यशाली हो गया। और जानकी जी का कथन यह था कि प्रभो, भाग्यशालिनी

तो मैं हूँ, जिसे आपने अपनी भुजाओं का आश्रय दे धन्य बना दिया है। आपका मेरे प्रति कितना स्नेह है! आप मेरा कितना ध्यान रखते हैं! अब निर्णय कौन करे कि कौन सही है? इसके लिए तो ऐसा व्यक्ति चाहिए, जो दोनों का विश्वासपात्र हो। ऐसा व्यक्ति लक्ष्मणजी को छोड़ और कौन हो सकता था? उन्हें बुलाया गया और कहा गया--"लक्ष्मण! आज तुम्हें न्यायाधीश बनाया जाता है। ठीक ठीक निर्णय देना।" दोनों ने अपनी अपनी बात रखी। ध्यान से सुनकर लक्ष्मणजी ने कहा—"आप दोनों की बातें थोड़ी थोड़ी ठीक हैं, पर पूरी ठीक किसी की नहीं।"

"फिर पूरी ठीक बात क्या है?" दोनों ने अचरज से पूछा।

"मुझे लगता है कि एक दूसरे को पाकर लता 'और वृक्ष दोनों ही सौभाग्यशाली हैं। पर सबसे सौभाग्यशाली तो वह पथिक है, जिसके सिर पर ये दोनों छाया किये हुए हैं। सचमुच, मुझसे बढ़कर सौभाग्यशाली दूसरा कौन होगा, जिसके ऊपर आप दोनों की स्नेह-छाया निरन्तर विद्यमान है!"

और बात बिलकुल सच थी। प्रभु श्री लक्ष्मण की उसी प्रकार सँभाल रखते थे, जैसे पलकें नेत्रों के गोलकों की--

जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसें।
पलक बिलोचन गोलक जैसें॥ --२/१४१/१

तो, कैकेयी अम्बा के जीवन में यदि यह ममत्व शेष

न होता कि भरत मेरे पुत्र हैं, राम पराये हैं, तो उनका जीवन परिवर्तित हो जाता। पर यह ममता एक विचित्र रोग है। गोस्वामी जी ने कहा--

ममता तरुन तमी अँधिआरी। --५/४६/३

--यह ममता घोर अँधेरी रात है। जैसे सघन अँधेरी रात में किसी को कुछ दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार जिसके जीवन में ममता आ जाती है, उसे सत्य दिखायी नहीं पड़ता।

एक व्यक्ति ने तुलसीदासजी से कह ही दिया--"हम आपकी बात को सही मानें या अपने जीवन के अनुभव को सच मानें? आप कहते हैं कि ममता के रहने पर कुछ दिखायी नहीं देता, पर हमें तो अन्दर ममता के रहने पर भी दिखायी देता है। आपकी बात को कैसे सच मान लें?" गोस्वामीजी ने कहा--"तब तो और भी डर की बात है। अगर आपको अँधेरे में दिखायी पड़ता है, तो समझ जाइए कि आप क्या हैं?--

ममता तरुन तमी अँधिआरी।
राग द्वेष उलूक सुखकारी॥ ५/४६/३

--जिसे आप दिखायी देना कह रहे हैं, वह आप नहीं देख रहे हैं, वह तो आपके भीतर के राग-द्वेष रूपी उल्लू देख रहे हैं। ऐसी रात राग-द्वेष रूपी उल्लुओं को ही सुख दे सकती है।" यह ममता सहजता से दूर होनेवाली नहीं। महाभारत की कथा में हम यही बात पाते हैं।

धृतराष्ट्र अन्धे थे। नेत्र से अन्धे तो थे ही, विचार

से भी अन्धे थे। उन्हें सत्य नहीं दीख पड़ा। उनकी पत्नी गान्धारी परम पतिव्रता थीं। ऐसी पतिव्रता कि जब विवाहित होकर आयीं, तो अपने पति को अन्धा देख उन्होंने अपनी आँखों पर भी पट्टी बाँध ली। धर्म की दृष्टि से देखने पर लगता है कि उन्होंने पातिव्रत धर्म का निर्वाह किया। जिस सुख से पति वंचित थे, उन्होंने स्वयं को उससे वंचित कर लिया। पर अगर धर्मसार की दृष्टि से देखें, तो लगता है उन्होंने उचित नहीं किया। धर्मसार की दृष्टि से वे देखतीं, तो उन्हें लगता कि ठीक है पति अन्धे हैं, पर मैं अपनी आँखें खुली रखूँगी। पति अगर देखने में असमर्थ हैं, तो मैं अपनी आँखों से देखकर उन्हें मार्ग दिखाऊँगी। यह थी धर्मसार की दृष्टि, जिसे गान्धारी नें त्याग दिया और आँखों पर पट्टी चढ़ा ली। और ऐसी पट्टी चढ़ायी कि भगवान् को भी नहीं पहचान पायीं, उन्हें भी शाप दे दिया!

महाभारत युद्ध हो चुका था। भगवान् कृष्ण कहीं से आ रहे थे। रास्ते में एक ऋषि का आश्रम पड़ा। प्रभु मुनि से यथोचित शिष्टाचार पूर्वक मिले और मुनि ने उनसे कुशल-समाचार पूछा। मुनि अपनी समाधि में ऐसे डूबे थे कि उन्हें महाभारत के युद्ध का पता ही न था। भगवान् ने युद्ध का समाचार दिया और बताया कि किस प्रकार लाखों-करोड़ों व्यक्ति मारे गये और बहुत थोड़े लोग ही बच रहे हैं। यह सुन महात्माजी को बड़ा क्रोध आया। रोष में भरकर बोले--"कृष्ण! तुम

साक्षात् भगवान् हो। तुम चाहते तो लड़ाई रोक सकते थे। तुमने जान-बूझकर लड़ाई होने दी। इतनी बड़ी हिंसा तुमने समाज में करा दी। लाखों-करोड़ों लोगों को अनाथ और बेसहारा कर दिया। जाओ मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम्हारे परिवार के लोग भी तुम्हारे सामने इसी प्रकार लड़-कटकर मारे जाएँगे।" भगवान् ने जब यह शाप सुना, तो उन्हें हँसी आ गयी। मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ कि मैंने शाप दिया और भगवान् हँस रहे हैं! मन में जरा भी क्षोभ नहीं! भगवान् ने हँसते हुए कहा--"महाराज, मैंने लड़ाई नहीं रोकी, तो कम से कम आप तो उसे रोकते, पर आप शाप भी लड़ाई होने का ही दे रहे हैं। एक लड़ाई तो हो चुकी और आप शाप दे रहे हैं कि दूसरी लड़ाई और हो। अब आप इसी से समझ जाइए कि भावी कितना बलवान है। उसके सामने कुछ चल नहीं सकता। जिसका आप विरोध कर रहे थे, आप उसी के होने में सहायक हो रहे हैं!"

गान्धारी ने पातिव्रत धर्म का पालन करने के लिए नेत्रों पर पट्टी बाँध ली, कभी न खोलने के लिए। पर एक ऐसा अवसर आया कि वे पट्टी खोलने को तैयार हो गयीं। महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने के अवसर पर उन्होंने दुर्योधन को बुलाया और कहा--"पुत्र! मैं चाहती हूँ कि तुम युद्ध में न हारो और न मारे जाओ। इसका मेरे पास एक उपाय है। मेरी आँखों में अद्वितीय शक्ति है। तुम मेरे सामने विवस्त्र होकर आओ। मैं

एक बार तुम्हें देख लूँगी तो तुम वज्र के हो जाओगे। तुम्हें कोई मार न सकेगा।" गान्धारी पट्टी खोलने को तैयार हो जाती हैं, पर उनकी आँखों पर पड़ा पर्दा नहीं खुलता। वह गान्धारी जो विदुषी है, जिसने सारा इतिहास और पुराण पढ़ा है, यह नहीं समझ पाती कि जब आज तक कोई इस देह में अजर-अमर नहीं हुआ, तो मैं कैसे अपने पुत्र को अमर बना सकती हूँ। ममता के अन्धत्व में उनका विवेक नष्ट हो जाता है। उन्हें धर्म-अधर्म की पहिचान नहीं रह जाती। उन्हें तो अपने पुत्र को बचाना है, भले ही वह अधर्म का मूर्तिमन्त प्रतीक हो। इस प्रकार गान्धारी का पातिव्रत धर्म अधर्म की अमरता के लिए प्रयास करता है। पर भगवान् श्रीकृष्ण तो धर्मसार के मर्मज्ञ हैं। वे सारी बातें जान लेते हैं। और जब दुर्योधन नग्न हो माँ के पास जाने के लिए प्रस्तुत होता है, तो भगवान् उसके सामने पहुँच जाते हैं, कहते हैं—"कहाँ चले इस विचित्र वेष में ?" दुर्योधन बड़ी दुविधा में पड़ जाता है, फिर सारी बातें कह सुनाता है। भगवान् भर्त्सना करते हुए कह उठते हैं—"तुम्हें जरा भी लज्जा नहीं आती इस प्रकार नग्न जाते हुए ? अरे भले आदमी, तनिक सा वस्त्र तो पहिनकर जाते। इतना शिष्टाचार तो होना ही चाहिए।" लज्जित हो दुर्योधन कमर में एक कपड़ा लपेट लेता है। और जब वह गान्धारी के पास पहुँचता है, तो गान्धारी अपनी आँखों से पट्टी खोल देती हैं। दुर्योधन का सारा शरीर वज्र का हो जाता है। केवल कमर का वह

भाग, जिसे उसने कपड़े से ढँक रखा था, ज्यों का त्यों रह जाता है और इसी भाग में प्रहार खाकर वह मारा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब गान्धारी जैसी पतिव्रता भी ममता के वशीभूत हो, अधर्म को अमर बनाने के लिए प्रयास करती है, तो असफल होती है। भगवान् मानो कह उठते हैं कि तुमने उसे अमर तो बनाया नहीं, उल्टे मृत्यु का केन्द्र अवश्य निश्चित कर दिया। पहले पाण्डवों को सोचना पड़ता कि प्रहार कहाँ करना चाहिए, पर अब तो तुमने स्वयं ही बता दिया कि कौन सा भाग दुर्बल है और चोट कहाँ करनी है; और इस प्रकार उसे मृत्यु के और निकट पहुँचा दिया। यही ममता है, जो धृतराष्ट्र और गान्धारी के सारे विवेक को नष्ट कर देती है।

इसी प्रकार मन्थरा भी कैकेयी की ममता को उभाड़ देती है। अब कैकेयी का कल्याण किसमें है? एकमात्र इस ममता के नाश में। इसका नाश कैसे हो? यह तो एक भीषण रोग है,जिसे एक कुशल चिकित्सक ही दूर कर सकता है। भगवान् राम की मान्यता है कि एकमात्र श्री भरत ही ऐसे योग्य चिकित्सक हैं, जो इस रोग को दूर कर सकते हैं। जिसका निदान भगवान् राम स्वयं नहीं कर सकते, उसे वे भरतजी को सौंपते हैं। जब समुद्र-मन्थन हुआ था, तब तो उसमें से चौदह रत्न निकले थे। उनमें एक धन्वन्तरि भी थे। इसी प्रकार जब भरतरूपी समुद्र का मन्थन होता है, तब भरत-चरित्र रूपी धन्वन्तरि का प्राकट्य होता है, जो कठिन से कठिन रोगों को भी दूर कर देता है।

कैकेयी अम्बा ने ब्रह्मा से प्रार्थना की थी कि अगले जन्म में उनके पुत्र राम हों, भरत नहीं। भगवान् राम ने सोचा कि माँ का आगामी जन्म तो होनेवाला है नहीं, क्यों न इसी जन्म में माँ की इच्छा पूरी कर दें, ऐसी व्यवस्था कर दें कि माँ को इसी जन्म में प्रतीति हो जाय कि उनका पुत्र भरत नहीं, मैं ही हूँ। पर यह तभी सम्भव है, जब उनकी ममता दूर हो। यह कार्य श्री भरत के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। और होता भी यही है। जब श्री भरत ननिहाल से लौटते हैं, तो उन्हें भगवान् राम के वनगमन और राजा दशरथ की मृत्यु का समाचार मिलता है। इन सबके मूल में माता को कारण जान वे कैकेयी की ऐसे कठोर शब्दों में भर्त्संना करते हैं, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। वे कह उठते हैं——

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ।
खंड खंड होइ हृदउ न गयऊ॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥
भूपँ प्रतीति तोरि किमि कीन्ही।
मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही॥ २/१६१/१-६

——अरी कुमति, जब तूने हृदय में यह गर्हित विचार ठाना, तो उसी समय तेरे हृदय के टुकड़े टुकड़े क्यों न हो गये ? वर माँगते तेरे मन में जरा भी पीड़ा नहीं हुई ? तेरी जीभ नहीं गल गयी ? तेरे मुँह में कीड़े न पड़ गये ? राजा ने तेरा विश्वास कैसे कर लिया ? लगता है विधाता ने मरने

के समय उनकी बुद्धि का हरण कर लिया !

यह सुनकर कैकेयी को मर्मान्तिक पीड़ा होती है। हृदय में ऐसा तीव्र आघात लगता है, जैसे उनकी मृत्यु हो जा रही हो। मृत्यु का अभिप्राय केवल शरीर ही से तो नहीं है। कहा भी गया है--

संभावित कहुँ अपजस लाहू।
मरन कोटि सम दारुन दाहू ।। २/९४/७

--प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए तो अपयश करोड़ों मृत्यु के समान दुखदायी है। चित्रकूट में तो कैकेयीजी की ग्लानि इतनी बढ़ जाती है कि उन्हें लगता है धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ। पर पृथ्वी कहती है--मैं तुम्हें जगह नहीं दूँगी--

अवनि जमहि जाचति कैकेयी।
महि न बीचु बिधि मीचु न देई।। २/२५१/६

नरक भी कहता है मैं रामविरोधी को रखने को तैयार नहीं--

राम बिमुख थलु नरक न लहहीं ।। २/२५१/७

बड़ी विपत्ति है कैकेयी जी के जीवन में। पृथ्वी फटने को तैयार नहीं, नरक रखने को तैयार नहीं, पुत्र ने तिरस्कार किया है, ऐसे समय में मुसकराते हुए भगवान् राम आ खड़े होते हैं और कहते हैं--"देख लो माँ, मुझे छोड़कर तुम्हारा और कोई नहीं। आज से तुम जान लो कि तुम्हारा पुत्र मै हूँ। तुम अगले जन्म मेंमुझे पुत्र-रूप में चाहती थीं,पर मैं तो इसी जन्म में तुम्हारा पुत्र हो गया। मुझे छोड़कर तुम्हारा

और कौन है ?" और सचमुच में कैकेयी जी को लगा कि राघवेन्द्र को छोड़ उनका और कोई नहीं। जिस पुत्र के लिए उन्होंने इतना अनर्थ किया--राजा से दान माँगा, राम को वनवासी बनाया, राजा को काल के हाथ में भेज दिया, उसी पुत्र से उन्हें सुनने को मिला--'खंड खंड होइ हृदउ न गयऊ'। और दूसरे पुत्र ये राम हैं, जिन्होने उन्हें अपना लिया। कैकेयी जी को पता लग गया कि नाता किससे जोड़ना चाहिए और किससे नहीं। और उनके जीवन में ऐसा तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ कि उनकी ममता का सर्वथा अभाव हो गया। गोस्वामी जी 'गीतावली रामायण' (३७ १) में लिखते हैं---

कैकेयी जौलों जिअति रही।
तौलों बात मातुसों मुँह भरि भरत न भूलि कही ॥

--जब तक कैकेयी जीवित रहीं, भरतजी से कभी उनकी बातचीत नहीं हुई। पर उन्हें दुख नहीं रहा कि भरत उनसे बोल नहीं रहे हैं, अपितु उन्हें यह सन्तोष था कि राम उन्हें अपनी माता से भी बढ़कर मानते हैं--'मानी राम अधिक जननी तें।'

इस प्रकार श्री भरत की कठोरता कैकेयी अम्बा की ममतारूपी तमस का विनाश कर उनके हृदय को भगवान् राम के दिव्य प्रेमालोक से पूरित कर देती है।

•

समाधि--उसका स्वरूप और उसके मार्ग की बाधाएँ

स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो के संस्थापक थे। प्रस्तुत लेख 'विवेकचूड़ामणि' ग्रन्थ पर १८ अप्रेल, १९३५ को दिये गये उनके एक प्रवचन का अंश है, जो 'वेदान्त केसरी' से साभार गृहीत और अनूदित हुआ है। इस लेख में उन्होंने ज्ञानात्मक साधना पर विशेष बल देते हुए समाधि के सोपानों की विवेचना की है।--सं०)

चेतना की दो विशिष्ट और अलग अलग अवस्थाएँ हैं, जिनमें निरपेक्ष सत्य के आनन्द का उपभोग होता है। इनमें से एक को कहते हैं निर्विकल्प समाधि। वह एक ऐसा अनुभव है, जो मानवीय भाषा द्वारा अकथनीय है। निर्विकल्प समाधि की अवस्था का वर्णन किसी भी ऋषि द्वारा अभी तक नहीं किया गया है। वस्तुओं का वर्णन गुण और आकारादि के द्वारा हुआ करता है, परन्तु उस स्थिति में तो ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैतभाव एक ही में समाहित हो जाता है। वहाँ न 'मैं' है, न 'तुम'; वहाँ न कोई द्रष्टा है, न कोई दृश्य। प्रत्येक वस्तु एक बन जाती है, और उस एक तत्त्व का वर्णन नहीं किया जा सकता। यद्यपि श्रीरामकृष्ण देव ने अनेक बार उस अवस्था का वर्णन करने का प्रयत्न किया, परन्तु वर्णन करते करते बीच में ही उनके शब्द रुक गये। सभी हिन्दू दार्शनिकों का मत है कि मात्र 'ईश्वरकोटि' अर्थात् जन्म से ही सिद्ध व्यक्ति ही उस अवस्था से लौटकर साधारण

चेतना की अवस्था में आ सकते हैं। जब कोई 'जीवकोटि' अर्थात् साधारण साधक उस अवस्था में पहुँचता है, तो वह फिर नहीं लौटता। इसका तात्पर्य यह है कि बूँद सागर के जल में गिरकर उसमें विलीन हो जाती है और वह वापस आकर बूँद का रूप नहीं धारण कर सकती। दूसरे शब्दों में, 'जीवकोटि' का शरीर सूखे पत्ते की तरह झड़ जाता है। तब क्या हम इसे साधारण बोलचाल की भाषा में कहें कि वह 'मर गया'? नहीं, वह मरता नहीं है। उसकी वास्तविक सत्ता उस ढाँचे से अलग होकर वहाँ चली जाती है, जहाँ से वह आयी थी। इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण देव ने बहुत सुन्दर दृष्टान्त दिया है। नमक का एक छोटा सा पुतला समुद्र की गहराई नापने के लिए चला। समुद्र के निकट पहुँच उसने अन्दर कदम रखा, परन्तु ज्योंही उसने ऐसा किया, वह घुल गया और वहाँ न कोई नापनेवाला रहा और न लौटकर आनेवाला। इससे समझ में आता है कि जब कोई जीवकोटि निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता है, तो क्या होता है। परन्तु ईश्वरकोटि में इतनी क्षमता होती है कि 'समुद्र' में डूबकर उससे एकरूप हो जाने पर भी वह लौट सकता है और अपना अलग अस्तित्व धारण कर सकता है।

समाधि की एक अन्य अवस्था है, जिसमें उस सत्य की उपलब्धि का आनन्द किंचित् भिन्न रूप में प्राप्त होता है और साथ ही इस गोचर संसार का भी अनुभव होता रहता है। इसे सविकल्प समाधि की स्थिति कहते

हैं। प्रत्यय 'स' का अर्थ है सहित और 'निर्' का अर्थ है बिना, तथा विकल्प का अर्थ है ज्ञाता एवं ज्ञेय के भेद का ज्ञान। जो इस सविकल्प समाधि' को प्राप्त कर लेते हैं, उनकी अनुभूति दोषरहित हो जाती है, भले ही वे हमें दिखने में साधारण-से लगें। अपने स्व-स्वरूप के ज्ञान के कारण बाह्य अभिव्यक्तियाँ उनको किसी प्रकार से स्पर्श नहीं कर पातीं। मान लीजिए, किसी ऐसे अनुभूतिसम्पन्न व्यक्ति को हम क्रोध करते देखें, तो क्या हम ऐसा सोच लें कि वह पूर्ण नहीं है? नहीं; कारण यह है कि ऐसे मुक्त पुरुष के लिए निम्न-अहं का वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है; उसने अपने को पूर्णतया महत्-अहं से एकरूप कर लिया है। एक मुक्त पुरुष को भी भूख और प्यास लग सकती है, उसे भी नींद और आराम की आवश्यकता महसूस हो सकती है। पर इससे कदापि यह अर्थ नहीं लग सकता कि उसका देह के साथ तादात्म्यभाव हो गया है। वह शरीर, मन और भावनाओं को यंत्रों की नाईं परिचालित कर सकता है।

निर्विकल्प समाधि में विलीन होने से पूर्व ये मुक्त जीव चेतना की जिस अवस्था में रहते हैं, उसके सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। श्रीरामकृष्णदेव ने ऐसे मुक्त जीवों की स्थिति को जीवन्मुक्त कहकर पुकारा है। इस स्थिति में उनका आचरण बन्धन में पड़े व्यक्तियों जैसा दिखने पर भी वे वस्तुतः बन्धनमुक्त रहते हैं। श्रीरामकृष्ण लोहे की तलवार का उदाहरण

देते थे, जो पारसमणि के स्पर्श से सोने में परिवर्तित हो गयी हो। उसका आकार तो लोहे की तलवार जैसा ही दिखता है, पर सोने की हो जाने पर अब वह किसी को चोट नहीं पहुँचा सकती। इसी प्रकार जीवन्मुक्त ने भी सच्चिदानन्दरूपी 'पारसमणि' का संस्पर्श पा लिया है, जिससे उसका समूचा व्यक्तित्व सम्पूर्णतया परिवर्तित हो गया है। वह भले ही मानवशरीर धारण किये हुए है, परन्तु उसमें किसी प्रकार का बन्धन या अपूर्णता नहीं है। श्रीरामकृष्णदेव भी इस गोचर जगत् में एक सामान्य व्यक्ति के समान ही रहते थे। हमारे पास इस बात के प्रत्यक्ष और अकाट्य प्रमाण हैं कि इच्छामात्र से वे निर्विकल्प समाधि में चले जा सकते थे, तथापि जब उनका मन इस गोचर जगत् में होता, तब वे अन्य व्यक्तियों की भाँति ही व्यवहार करते थे। इससे क्या हम ऐसा सोच लें कि वे शरीर, मन और भावनाओं के बन्धन में हम लोगों के समान ही बँधे थे ? नहीं, वे मानवरूप में रहते और विचरण तो करते थे, परन्तु उनकी चेतना उससे तद्रूप न थी। यही वह स्थिति है, जिसमें जीवन्मुक्त रहा करता है।

दूसरी धारणा यह मानती है कि 'पारसमणि के स्पर्श' के बाद भी व्यक्ति में थोड़ी सी अपूर्णता रह जाती है; वह जब तक शरीर और मन का अतिक्रमण कर निर्विकल्प समाधि के सतत आनन्द में लीन नहीं हो जाता, तब तक पूर्णतः सुरक्षित नहीं है। वैसे हमें इस

विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। हम भले ही उस समाधि का एक अंश भी अनुभव में न ला पाएँ, तथापि हम प्रयत्न तो करें, जिससे हमारे चरित्र में उस पूर्णता के कुछ लक्षण आ जाएँ। समय आने पर उस समाधि की भी हमें उपलब्धि हो सकेगी।

'विवेकचूड़ामणि' में शंकराचार्य ने इस जीवन्मुक्त अवस्था का उल्लेख बहुत कम किया है। वे कहते हैं—रुको मत; बढ़े चलो और निर्विकल्प समाधि की अवस्था में प्रविष्ट हो पूर्णतया तथा अन्तिम रूप से मुक्त हो जाओ। हममें से प्रत्येक को यही दृष्टिकोण रखना चाहिए। जहाँ अन्य दूसरा कुछ नहीं रहता, ऐसी स्थिति में पहुँचने के लिए हमें अधीर होना चाहिए। हम ऐसा कह सकें कि इस संसार में मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं उस समाधि के आनन्द में निमग्न रहना चाहता हूँ। हमें उस ओर प्रयास करना चाहिए। पर हाँ, इस लक्ष्य की प्राप्ति में एक शक्ति बाधक हो सकती है। वह है प्रारब्ध कर्म की शक्ति, जो हमें कर्म करने के लिए बाध्य कर सकती है। यदि समाधि की उपलब्धि के पश्चात् भी प्रारब्ध हमें संसार में रख सकता है, तो उसकी शक्ति भी हमें कर्म करने के लिए बाध्य कर सकती है। पर तुम अपने मन को हर प्रकार की अभिव्यक्ति से ऊपर उठने के लिए तैयार करो, और यदि तुम्हारे प्रारब्ध में कोई कर्म शेष है ही, तो वह कर्म स्वयं ही अपने को निःशेष कर लेगा। तुम्हें उसके लिए चिन्ता न करनी पड़ेगी। तुम्हारा लक्ष्य

हो कि 'मैं' का अस्तित्व न रहे, यहाँ तक कि मानवमात्र की 'भलाई करने' के लिए भी नहीं।

एक और दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है। मान लो एक रत्नागार है, जिसमें सब प्रकार के कीमती रत्न-जवाहिरात और असीम सम्पत्ति रखी है और तुम उसको ढूँढ़कर, उसका स्वामी बन उस घर में रहना चाहते हो। तब तो तुम और किसी बात की परवाह न करोगे, तुम अपनी सारी शक्ति उसको पाने में लगा दोगे। अब कल्पना करो कि एक व्यक्ति तुमसे कहे, "आओ मेरे साथ," और वह तुम्हें उस स्थल पर ले जाय, अपनी चाबी से उस रत्नागार को खोल तुम्हें भीतर सब कुछ दिखला दे और तत्पश्चात् कहे—"यह तुम्हारा है। उपयुक्त समय आने पर तुम यहाँ आओगे और यहाँ रहोगे, परन्तु मैं चाहता हूँ कि तुम कुछ करो। अभी यहाँ मत ठहरो। इस स्पष्ट धारणा के साथ बाहर आओ कि यह तुम्हारा है और संसार में जैसा मैं चाहता हूँ वैसा विचरण करो। बाद मे मैं तुम्हें चाबी दे दूँगा।" कुछ बिलकुल ऐसा ही श्रीरामकृष्णदेव और स्वामी विवेकानन्द के बीच में हुआ था। एक समय था, जब स्वामी विवेकानन्द हमेशा समाधि में डूबे रहना चाहते थे, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने कहा, "मैं तुमसे कुछ भिन्न आशा रखता हूँ। डूबने के लिए इतने आतुर क्यों हो? वह तो तुम्हारा ही है, परन्तु मैं उसे ताले में बन्द रखूँगा। जब तुम माँ का कार्य पूरा कर लोगे, तब समय आने पर मैं तुम्हें चाबी

दे दूँगा और तुम सर्वदा वहाँ रह सकोगे।" यह वार्तालाप कुछ कुछ ऐसा ही था।

यह तो उन दो महान् विभूतियों के बीच घटा था, परन्तु हम क्षुद्र लोगों को क्या करना चाहिए? हमें अपने मन में ठान लेना चाहिए कि हमें पूर्ण मुक्ति ही चाहिए और हमें संसार की कोई परवाह नहीं। यदि ईश्वर ने इसकी सृष्टि की है और वह इतना सामर्थ्यवान् नहीं है कि इसे ठीक से रख सके, तो हम भला क्या कर सकते हैं? यह हमारा दृष्टिकोण हो। 'मानवता की भलाई करने' का हमारा भाव केवल इस अहंकार को ही पुष्ट करने का एक बहाना है, या दूसरे शब्दों में कहें, 'स्वार्थपूर्ति' का ही दूसरा तरीका है। अन्तिम विश्लेषण में और कुछ नहीं ठहरता। केवल वे ही मानव का भला कर सकते हैं, जो पूर्णतया निःस्वार्थ हैं; दूसरे तो बस अपना मतलब साधते हैं। हम जानते हैं कि हम कुछ करें या न करें, सब कुछ उसी प्रकार चलता रहेगा। जो अपने मन में यह बात ठान सकता है कि उसे पूर्णमुक्ति को छोड़ और कुछ नहीं चाहिए, वह उसे अवश्य प्राप्त करेगा। गुरु या ईश्वर स्वयं आकर रत्नागार का द्वार उसके लिए खोल देंगे; और यदि उसके द्वारा किसी प्रकार का परोपकार अथवा ईश्वर की या मानव की सेवा का कार्य होना है, तो वह कर-वसूली के समान सम्पन्न हो जायगा। वह भले ही कर न पटाना चाहे, पर वह तो वसूल कर ही लिया जायगा। अतएव यदि आत्म-साक्षात्कार के बाद तुम्हें इस संसार में कुछ

करना है, तो तुम्हें उसके लिए बाध्य कर दिया जायगा।

अब इस पर विचार करें कि इस अवस्था की उपलब्धि में क्या क्या बाधाएँ हैं ? अच्छाई एक बाधा है; दया, प्रेम ये सभी बाधाएँ हैं। अन्तिम विश्लेषण में यही ठहरता है कि जो भी 'मैं' को किसी भी रूप में बनाये रखना चाहता हैं, वही बाधा है। जब तुम प्रेम करते हो, तो तुम एक बृहत् 'मैं' रखते हो; तुम उस 'मैं' को या अपने प्रेमास्पद को छोड़ना नहीं चाहते। परन्तु वहाँ तो द्वैत नहीं जा सकता; वहाँ दो के लिए स्थान नहीं है। एकत्व कि उपलब्धि तब तक नहीं हो सकती, जब तक अहं का लेशमात्र भी बाकी है। श्रीरामकृष्णदेव एक सुन्दर उदाहरण देते थे। वे 'मैं' की तुलना उस धागे से करते थे, जिसे तुम सुई के छेद में से डालना चाहते हो। यदि धागे के रेशे निकले हुए हों, तो उसे सुई के छेद में से नहीं डाला जा सकता। इसके लिए सब रेशों को एक में बटना पड़ता है। इसी प्रकार यहाँ भी हमें मन के सब रेशों को इकट्ठा कर एक बनाना पड़ता है। यह भले ही दुःसाध्य प्रतीत होता हो, पर आज या कल हमें यह करना ही होगा।

अगला सोपान है नित्य और अनित्य के बीच विवेक करना। अनित्य इतना लुभावना रूप लेकर आता है कि हम उसके पीछे दौड़ पड़ते हैं। हमें विवेक की मशाल प्रज्वलित रखनी होगी।

तुमने कभी किसी पुलिन्दे की गांठें खोलने की

कोशिश की है ? कुछ गाँठें ऐसी होती हैं, जिन्हें तुम आसानी से खोल सकते हो, परन्तु कुछ ऐसी भी होती हैं, जो वहुत सख्त होती हैं। फिर गाँठों की संख्या भी बहुत। एक खोलने पर दूसरी हाजिर। इस उदाहरण का उपयोग उपनिषद् में किया गया है। आत्म-साक्षात्कार होने पर हृदय की सभी गाँठें खुल जाती हैं। हृदयग्रन्थियों को पकड़ म-पन में रहती है। 'मैं हूँ' इस भाव में सारी गाँठें छिपी हैं। उन्हें खोलना होगा। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे--मा लो तुमन बुरी तरह से उळझी हुई रस्सी से छुटकारा चाहते हो, तो क्या करोगे ? एक छोर पर अग्नि की चिनगारी छुला दो और वह सबको जलाकर खाक कर देगी। बहुधा रस्सी जल जाने पर भी अपना रस्सी का आकार बनाकर रखी रहेगी। पर फूँकते ही वह उड़ जायगी। तुम्हें इसके एक छोर पर केवल चिनगारी भर पहुँचानी है—विवेक की चिनगारी।

अपने 'विवेकचूड़ामणि' ग्रन्थ में (३३५) शंकराचार्य कहते हैं--"योगी पुरुष चित्त की शान्ति, इन्द्रियनिग्रह, विषयों से उपरति और क्षमा से युक्त होकर समाधि का निरन्तर अभ्यास करता हुआ अपने सर्वात्मभाव का अनुभव करता है और उसके द्वारा अविद्यारूप अन्धकार से उत्पन्न हुए समस्त विकल्पों का भली भाँति ध्वंस करके निष्क्रिय और निर्विकल्प होकर आनन्द पूर्वक ब्रह्माकार वृत्ति से रहता है।"

हम योगी बनने की विशिष्टताओं को छोड़ दें और

इन शब्दों का अनुसरण करें—'अपने सर्वात्मभाव का अनुभव करता है।' वह कभी ऐसी भ्रान्त धारणा नहीं करता कि उसकी आत्मा यह शरीर है अथवा मन अथवा कि बुद्धि की वृत्तियाँ। उसकी आत्मा सर्वत्र है। कल्पना करो कि एक जघन्य वस्तु तुम्हारे सामने है, तो तुम क्या करोगे? वह तो तुम्हारी स्वयं की आत्मा है, क्या तुम उससे घृणा कर सकोगे? और मान लो कोई बहुत महान् और आश्चर्यजनक वस्तु है, तब तुम क्या कहोगे—'मैं कितना क्षुद्र हूँ,' और ऐसा कह उससे ईर्ष्या और द्वेष करोगे? तुम ऐसा कैसे कर सकते हो? वह तो तुम ही हो। तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हारो आत्मा इतनी सुन्दर है। यदि तुम प्रशान्ति चाहते हो, तो उसका ध्यान करो और शान्ति स्वतः ही आ उपस्थित होगी। इन्द्रियों का संसार भला तुम्हें क्यों आकर्षित करे? क्या आइने में अपने को देखकर तुम मोहित हो जाते हो? नहीं, क्योंकि तुम जानते हो कि वह तुम ही हो। जब तुम यह जान लोगे कि समस्त इन्द्रियगम्य सुन्दर वस्तुएँ तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब हैं—तुम्हारी आत्मा का एक अत्यन्त छोटा सा प्रतिबिम्ब, तब तुम उन्हें चाहने लगोगे और आनन्द पाओगे, परन्तु पतिंगे के समान अग्नि में प्रवेश कर भस्मसात् नहीं होगे। वही वास्तविक आनन्द है। तुम्हें हर चीज के लिए भीख माँगने की आवश्यकता क्यों हो? इन्द्रिय-विषयों को भी प्रशंसा की दृष्टि से देखा और उनका आनन्द लिया जा सकता है, यदि हम समझ लें

कि सब कुछ मेरी आत्मा के ही स्फुल्लिग हैं। क्या तुम द्वैतवादी बनना चाहोगे ? श्रीरामकृष्णदेव कहते थे--"मेरी माँ (जगन्माता) ही आत्मा है; वह मेरे भीतर है और वही सर्वत्र है।" और इस प्रकार वे माँ के दिव्य रूप को चाहकर उससे आनन्दित होते थे। इन्द्रिय-विषयों का उनके लिए कोई अस्तित्व ही न था।

समाधिवान् पुरुष सहिष्णु होता है--शत्रु, रिपु, मित्र, सभी तो आत्मवत् हैं। क्या तुम ऐसी धारणा कर सकते हो ? वह 'कर्मों से मुक्त' होता है। उसका शरीर भले ही कार्यरत हो, पर वह निष्क्रिय रहता है। वह द्रष्टा है; वह आनन्दित होता है, परन्तु 'मन की चंचलता' से मुक्त रहता है, संकल्प और विकल्प के दो ध्रुवों के बीच भटकनेवाला मन उसको स्पर्श नहीं कर पाता।

●

ईश्वर मानो चीनी का पहाड़ है और भक्तजन चींटी। छोटी चींटी चीनी के पहाड़ से चीनी के छोटे छोटे कणों से पेट भरती है और बडी चींटी बड़े बड़े कणों से, परन्तु पहाड़ जैसे का तैसा बना रहता है। उसी प्रकार भक्तगण अपने अपने अधिकार के अनुसार भक्तिरस चखकर तृप्त होते हैं, पर कोई भी ईश्वर को सर्वांग-सम्पूर्ण रूप से नहीं जान सकता।

--श्रीरामकृष्ण

स्वधर्म की भूमिका

(गीताध्याय २, श्लोक ३१)

स्वामी आत्मानन्द

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

स्वधर्मं (स्वधर्म को) अपि च (और भी) अवेक्ष्य (देखकर) न (नहीं) विकम्पितुं (डाँवांडोल होने के) अर्हसि (योग्य हो) हि (क्योंकि) धर्म्यात् युद्धात् (धर्मयुद्ध की अपेक्षा) क्षत्रियस्य (क्षत्रिय के लिए) अन्यत् (दूसरा कुछ भी) श्रेयः (कल्याणकर) न विद्यते (नहीं है)।

"और स्वधर्म को देखते हुए भी तुम (इस प्रकार) डाँवांडोल होने योग्य नहीं हो, क्योंकि क्षत्रिय कें लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर कल्याणकर और कुछ नहीं है।"

पिछली चर्चा में हमने कहा था कि अर्जुन के मन में द्वन्द्व मचा हुआ है; वह यह निश्चय करने में असमर्थ है कि भीष्म-द्रोणादि पूज्य जनों से लड़ाई की जाय या नहीं। इसके पूर्व के श्लोकों में अर्जुन के भीतर होनेवाले उस दुःख के निराकरण का प्रयास किया गया है, जो स्वजनों के वियोग से सम्भावित था। अब इस श्लोक में पाप के डर को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। अर्जुन को ऐसा लगता है कि पूज्य जनों का वध करना कोई शोभनीय कर्म नहीं है। अपने बान्धवों का घात करना पाप है। इस पाप की आशंका को दूर करना ही इस श्लोक का अभिप्राय है। भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'स्वधर्म' का पालन पाप का कारण नहीं बना

करता। क्षत्रियों के लिए सबसे बड़ा कल्याणकारी तो धर्मयुद्ध होता है। जो युद्ध हम पर अधर्मपूर्वक थोपा जाता है, उसका प्रतिकार धर्मयुद्ध कहलाता है। ऐसा युद्ध सदैव अधर्म के विरुद्ध ही हुआ करता है।

अर्जुन को भगवान् कृष्ण दर्शन की दृष्टि से पर्याप्त समझा चुके हैं। अब इस श्लोक में वे मनोविज्ञान का आधार लेकर अर्जुन को समझाते हैं। स्वधर्म की बात मन से ही सम्बन्धित है। स्वधर्म वह मनोवैज्ञानिक आधार है, जिस पर हिन्दू शास्त्रों में मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय हुआ है। इसी के आधार पर वर्णों का विभाजन हुआ है। हिन्दुओं की सामाजिक संरचना में स्वधर्म का प्रमुख स्थान है। स्वधर्म-पालन चतुर्थ पुरुषार्थ--मोक्ष--की प्राप्ति का एक ऐसा रास्ता है, जिसे अँगरेजी में path of least resistance (कम से कम अवरोध का पथ) कहते हैं।

स्वधर्म के दो स्तर हैं--भीतरी और बाहरी। भीतरी स्तर पर वह व्यक्ति की मानसिकता का निर्माण करता है और बाहरी स्तर पर उसे समाज में वर्तन करने के लिए नियमों का ढाँचा प्रदान करता है। इस प्रकार स्वधर्म मनोसामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण कर उसे आत्म-चेतना के साथ संयुक्त करता है।

हिन्दुओं ने जीवन की उपलब्धियों के आधार को चार पुरुषार्थों में बाँटा है। ये चार पुरुषार्थ हैं--धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। 'पुरुषार्थ' वह है, जिसके लिए

पुरुष प्रयत्न करता है। इसका तात्पर्य यह है कि ये चारों पुरुषार्थ उसी को मिलते हैं, जो प्रयत्नशील और उद्यमी है। उद्यमविहीन व्यक्ति किसी भी प्रकार की उपलब्धि का अधिकारी नहीं बनता। यह पुरुषार्थवाद लोगों के उस कटाक्ष का प्रतिवाद करता है, जो कहते हैं कि हिन्दू धर्म पलायनवादी और अकर्मण्यता का साधक है। हिन्दू धर्म तो यही सिखाता है कि बिना उद्यम और कर्मठता के न अर्थ मिलता है, न काम, न धर्म, न मोक्ष। जीवन में इन चारों पुरुषार्थों की आवश्यकता है। हम अर्थ और काम की प्रवृत्तियों को नकारते नहीं, बल्कि स्वीकार करते हैं। केवल इतना ही कहते हैं कि अर्थ और काम की धाराएँ अपने आप में बड़ी उच्छृंखल और उद्दाम होती हैं, इनको बिना किसी अवरोध के बहने देने से ये मनुष्यता का विनाश करती हैं। नदी की धारा यदि उच्छृंखल और उद्दाम हो जाय, तो कई गाँवों में बाढ़ ला लोगों के विनाश का कारण होती है, पर उसी को यदि नहरें बनाकर सुनियंत्रित कर दें, तो लोगों के अन्न-जल का साधन बन उन्हें प्राणदान देती है। ठीक ऐसी ही अर्थ और काम की ये धाराएँ हैं। यदि अनियंत्रित हैं, तो तनाव पैदा करती हैं और मनुष्य को पशु बना देती हैं। आज पश्चिमी समाज इसी तनाव से आक्रान्त है। वहाँ के लोग tension (तनाव) और frustration (हताशा) के शिकार हैं। उन्हें नींद नहीं आती। नींद के लिए tranquillizers (नींद की गोली) की जरूरत होती है। उनके पास पैसे

का अभाव नहीं, भौतिक साधनों की कमी नहीं, पर यह पैसा और ये भौतिक साधन उनकी मानसिक अशान्ति को कम करने की बजाय बढ़ाते ही अधिक हैं। यह एक भीषण रोग है, जिसे महाभारत में 'तृष्णा' के नाम से पुकारा गया है। तृष्णा का उपभोग कभी तृष्णा को शान्त नहीं कर सकता, बल्कि उससे तृष्णा और तीव्र हो जाती है। राजा ययाति का उदाहरण प्रसिद्ध है। जब वह अपने छोटे लड़के का यौवन लेकर भी अपने आपको तृप्त न कर पाया, तब बरबस उसके मुख से शब्द फूट पड़े--

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।
यत्पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत्।।

--जैसे आग को बुझाने के लिए यदि कोई उसमें घी डाले, तो आग बुझने के बदले और तेज हो जाती है, वैसे ही कामनाओं को शान्त करने के उद्देश्य से यदि कोई उनका उपभोग करे, तो वे शान्त होने की बजाय और भी तीव्र हो जाती हैं। संसार में जितना भी अनाज, स्वर्ण-माणिक्य, पशुधन और स्त्रियाँ हैं, ये सब के सब मिलकर एक व्यक्ति की तृष्णा को भी शान्त नहीं कर सकते, इसलिए तृष्णा का त्याग कर देना चाहिए।

इतना कहकर ययाति एक और महत्त्वपूर्ण बात कहता है--

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिः या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगः तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

——जो अविवेकियों के लिए दुस्त्यज है, अर्थात् जिसका त्याग करना अविवेकियों के लिए कठिन है, जो भोगनें-वाले के जीर्ण हो जाने पर भी जीर्ण नहीं होता, ऐसा जो तृष्णा नामक प्राण हरनेवाला रोग है, उस तृष्णा के त्याग में ही सुख है ।

अर्थ और काम की अनिर्बन्ध प्रवृत्तियाँ इस तृष्णा को जन्म देती हैं और उसका पोषण कर उसे तीव्र बनाती हैं। ययाति नें तृष्णा को रोग कहा——ऐसा रोग, जो प्राणों को हर ले। इसमें संशय नहीं कि अर्थ और काम की प्रवृत्तियाँ जीवन के लिए अनिवार्य हैं, पर इनका अतिरेक जीवन के लिए विनाश-कारी होता है। जल प्राणप्रद और जीवन के लिए अनि-वार्य है, इसमें भला कौन संशय कर सकता है, पर जब वह बाढ़ का रूप धारण कर ले, तो वह विनाशकारी हो जाता है। इसी प्रकार अर्थ और काम की प्रवृत्तियों का अतिरेक मानवता को सोख लेता है और समाज के लिए प्रलयंकारी हो जाता है। इनके नियंत्रण की आवश्यकता है। यह नियंत्रण धर्म के अंकुश द्वारा साधित होता है। यह धर्म तीसरा पुरुषार्थ है। धर्म के द्वारा अनुशासित काम भगवान् की ही विभूति माना गया है, जैसा कि गीता में भगवान् कहते हैं——'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'——हे भरतकुलश्रेष्ठ! मैं जीवों में वह काम हूँ,

जो धर्म का अविरोधी है।

धर्म वह तत्त्व है, जो पदार्थ के--वस्तु अथवा प्राणी के--स्वरूप का धारण करता है। 'धृ' धातु से यह धर्म शब्द व्युत्पन्न है, जिसका तात्पर्य होता है 'धारण करना'। इसका आशय दो प्रकार से प्रकट किया जाता है--'धरतीति धर्मः' और 'ध्रियते इति धर्मः'। इन दोनों को मिलाने से एक तीसरा आशय प्रकट होता है--'ध्रियमाणः सन् धरति इति धर्मः'--अर्थात् धर्मी में (यानी पदार्थ में) रहकर जो धर्मी के स्वरूप की रक्षा करता रहे, वही धर्म है। महाभारत में 'धर्म' की ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की गयी है--

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

--जो धारण करता है, उसे धर्म कहते हैं। वह प्रजा का धारण करता है। जिसमें धारण करने की क्षमता हो, उसे निश्चयपूर्वक धर्म जानो।

किसी भी पदार्थ के स्वरूप को सुरक्षित रखना ही उसका धारण कहलाता है। जैसे दाहकता अग्नि के स्वरूप को बनाये रखती है; यदि अग्नि से दाहकत्व निकल जाय, तो अग्नि फिर अग्नि रहेगी ही नहीं, अतः दाहकता को हम अग्नि का धर्म कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य का धर्म है मनुष्यता। यह मनुष्यता ही उसे मनुष्य बनाकर रखती है। यदि उसमें से मनुष्यता का धर्म निकल जाय, तो वह सच्चे अर्थों में मनुष्य नहीं रह

जायगा। संस्कृत में एक सुभाषित है, जिसमें कहा है--
आहारनिद्राभयमैथुनं च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः॥
--आहार, निद्रा, भय और प्रजनन की वृत्तियाँ पशु और मनुष्य दोनों के लिए समान हैं। मनुष्यों में एक धर्म की वृत्ति की अधिकता और विशेषता है, यदि वह उनमें न हो, तो वे पशु के ही समान हैं।

तो, मनुष्य में यदि मनुष्यता का धर्म न हो, तो भले ही उसका चोला मनुष्य का हो, वह वास्तव में पशु ही है। इस मानवधर्म की व्याख्या करते हुए महामुनि व्यास कहते हैं--

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥

--'मैं धर्म का सारसर्वस्व बतलाता हूँ; इसे ध्यानपूर्वक सुनो और इसकी धारणा कर लो कि जो कर्म पने आपको दुःखदायी हों, उन्हें दूसरों के लिए भी कभी न करो। आत्मा के प्रियाप्रिय जाननेवाले पुरुष को चाहिए कि दूसरों के द्वारा किया जो काम उसे अच्छा न लगा, उसे दूसरों के लिए कभी न करे।' इसका तात्पर्य यह है कि कोई हमें मारता, पीटता या गाली देता है, अथवा झूठ बोलकर हमें धोखा देता है, तो हमें वहुत बुरा लगता है। इसलिए हम भी दूसरों के साथ ऐसे काम न करें। इसके विपरीत, यदि कोई हमारी सहायता करता है और

हमारे प्रति सहानुभूति या दया दिखलाता है, तो हमें अच्छा लगता है, अतएव हम भी दूसरों के साथ ऐसा ही बर्ताव करें। इसे यद्यपि महर्षि व्यास ने धर्म का सार-सर्वस्व कहकर पुकारा, पर हमें इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि एकमात्र यही धर्म अथवा अधर्म का मापदण्ड है। इसे हम धर्म की प्रारम्भिक परिभाषा मात्र कह सकते हैं, क्योंकि उक्त पद्यों में जो परोपकार की बात कही गयी है, वह स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर कही गयी है। अपना स्वार्थ बना रहे, तो दूसरों का साधो, यही उसका तात्पर्य निकलता है। इससे स्वार्थ और परोपकार के झगड़े में स्वार्थ जीत जायगा। तो, स्वार्थ की पीठ ठोंकनेवाला कभी धर्म का सारसर्वस्व नहीं हो सकता। यहाँ पर भगवान् व्यास द्वारा इतना ही अभिप्रेत है कि धर्म की प्रारम्भिक कसौटी अपने ही सुख-दुःख के समान सबके सुख-दुःख को समझने में निहित है। धर्म के उच्चतर सोपान तो बाद में आते हैं। परोपकार करना यह दूसरी सीढ़ी है और बिना किसी स्वार्थ के 'सर्वभूत-हितरत' रहना सर्वोच्च सीढ़ी है। हमारा आदर्श ही है—'सर्वभूतहितेरतः'। भर्तृहरि इन सोपानों की चर्चा के द्वारा मनुष्य की श्रेणियाँ गिनाते हुए कहते हैं—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृताः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

---पहली श्रेणी है 'सत्पुरुषों' की, जो अपने स्वार्थ की परवाह न करते हुए दूसरों का उपकार करते हैं। दूसरी श्रेणी 'सामान्य' पुरुषों की है जो दूसरों का भला तब तक करते हैं, जब तक उनके अपने स्वार्थ पर चोट नहीं पहुँचती। तीसरी श्रेणी में 'मानवराक्षस' आते हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का हित मारा करते हैं। पर जो अकारण ही दूसरों के हित का नाश करते हैं, वे कौन हैं मैं नहीं जानता !

यह 'सत्पुरुष' ही धर्म का आदर्श है, यही प्रकृत मनुष्यता है। धर्म के अन्तर्गत ये सारे सोपान आते हैं। चार पुरुषार्थों में यह धर्म पहला पुरुषार्थ है, जिसका अंकुश 'अर्थ' और 'काम' पर लगना चाहिए। हम कह चुके हैं कि बिना अंकुश के अर्थ और काम की प्रवृत्तियाँ मनुष्य की मनुष्यता को खत्म कर देती हैं। मनुष्य पशु बन जाता है, केवल इन्द्रियों और इन्द्रिय-विषयों के राज्य में ही वह विचरण करता रहता है। शरीर तो उसे मनुष्य का मिला है, पर भोग वह पशुओं के समान करना चाहता है। पर मानव-शरीर की अपनी एक सीमा होती है, उसमें पशु के समान भोग भला कैसे किया जा सकता है ? इसलिए शरीर, इन्द्रियाँ ये सब अवसन्न हो जाते हैं। तब वह इन शिथिल इन्द्रियों को विभिन्न प्रकार से—ड्रग (नशीली दवा) या शराब का सहारा लेकर---उत्तेजित करता है, जिससे वह विषयों का निर्बाध भोग कर सके। पर इन्द्रियाँ ऐसी अस्वाभाविक उत्तेजना भी भला

कहाँ तक सह सकती हैं ? वे टूटने लगती हैं और फल-स्वरूप मनुष्य जवानी में ही खोखला हो जाता है। आज का युवा-वर्ग drug-addict (नशीली दवा का आदी) होकर, चरस, एल.एस.डी. और गाँजे आदि में अपने को खोकर hallucinations (मानसिक विभ्रान्ति) का शिकार हो रहा है। इसी को आज की भाषा में 'हिप्पी' कहते हैं, जिसमें विश्व के सभी देशों के युवक और युवतियाँ शामिल हैं। पश्चिमी देशों में यह drug-addiction (नशीली दवा का आदी होना) दावानल के समान फैल गया है। वहाँ की सरकारें इस भयंकर समस्या के प्रति जागरूक हैं और यथाशक्ति इस रोग की रोकथाम के लिए प्रयत्नशील हैं। पर अभी तक नतीजा ऐसा नहीं निकला है, जो आशा का सन्देश दे सके। भारत में भी बड़े बड़े स्थानों पर यह रोग प्रविष्ट हो चुका है। इसका निदान किसी दवा में नहीं है। रॉबर्ट एस० डि रॉप अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Drugs and the Mind' में लिखते हैं--In one year alone, the sale of tranquillizers in America soared to 150 million dollars. Millions more are spent on alcohol. Can we dispense happiness in pills ? . . . Is the chemist invading the most secret recesses of the human soul ?--अर्थात्, मात्र एक वर्ष में अमेरिका में नींद की गोलियों की खपत १२० करोड़ रुपये की हुई तथा और भी कई करोड़ रुपये मदिरा पर खर्च किये जाते हैं। क्या हम सुख को गोलियों में भरकर दे सकते हैं ? . . . क्या रासायनिक मानव-आत्मा की अन्तर्तम गहराइयों

में झाँकने में समर्थ हो रहा है ?

और, यह बात लिखी गयी थी १६६५ के सम्बन्ध में। इन कुछ वर्षों में नींद की गोलियों, नशीली दवाओं और शराब आदि की खपत जाने कितनी गुनी बढ़ गयी होगी! और यह सब किसलिए ? सुख पाने के लिए। क्या सुख ऐसे ही मिल जाता है ? जहाँ पानी नहीं है, वहाँ कितना भी खोजो तो क्या पानी मिल सकेगा ? हम सुख वहाँ खोजते हैं, जहाँ वह नहीं है, हम अपने से बाहर सुख की खोज करते हैं। पर क्या सुख हमसे बाहर मिलेगा ? नहीं, वह बाहर नहीं है––इन्द्रियों में नहीं है, विषय-भोगों में नहीं है। वह अपने भीतर है, अपनी आत्मा में है। और इस आत्मा का सुख ही इन्द्रियों के माध्यम से, विषयों के माध्यम से प्रकट होता है। हम भूल से सोचते हैं कि सुख इन्द्रियों और उनके विषय-भोगों में है। जैसे कस्तूरी मृग सुगन्धि की खोज में वन वन भटकता फिरता है, वैसे ही हम भी सुख को पाने के लिए सतत भटक रहे हैं। सुगन्धि तो मृग की नाभि से निकल रही है। उसी प्रकार सुख आत्मा से निकलता है, पर हम अज्ञान से उसे अन्यत्र ढूँढ़ते फिरते हैं। धर्म वह है, जो इस सत्य का हमें ज्ञान कराता है। ऐसा धर्म यदि अर्थ और काम की वृत्तियों पर अंकुश का काम करे, तो इन वृत्तियों का विष सूखता है और उनकी लाभकारी शक्ति प्रकट होती है। अर्थ और काम की इन वृत्तियों में विष और अमृत दोनों हैं। धर्म उनके विष को पीकर

अमृत को समाज के कल्याण के लिए उपलब्ध करता है। इसी को हिन्दू शास्त्रों ने 'अभ्युदय' कहकर पुकारा है, जिसका अर्थ होता है लौकिक कल्याण। अर्थ और काम जब धर्म द्वारा अनुशासित होते हैं, तो उससे अभ्युदय प्रकट होता है। हमें यह गलतफहमी न हो कि अर्थ और काम को अभ्युदय कहते हैं। हमने लौकिक कल्याण इसमें माना है कि अर्थ और काम की उद्दाम और उच्छृंखल धाराएँ धर्म के द्वारा बाँध दी जायँ। और जब हम ऐसा करते हैं, तो धीरे धीरे इन्द्रियों की हमारी दासता खत्म होने लगती है; मन जो पहले इतनी उठा-पटक किया करता था, अब शनैः शनैः शान्त होने लगता है। मन और इन्द्रियों पर हमारा प्रभुत्व बढ़ने लगता है। अब तक हम मन और इन्द्रियों द्वारा बाँध लिये गये थे, पर अब हम उनके बन्धन से मुक्त होने लगते हैं। यही चतुर्थ पुरुषार्थ--मोक्ष--का प्राकट्य है। मोक्ष का तात्पर्य है मुक्ति--बन्धन से मुक्ति--मन और इन्द्रियों के बन्धन से मुक्ति। यही लक्ष्य है, जिसे हिन्दू शास्त्रों ने 'निःश्रेयस्' कहकर पुकारा। अभ्युदय ही निःश्रेयस् का सोपान है। मन और इन्द्रियों का बन्धन क्षीण होने पर हमें सुख का स्रोत अपने आप में प्राप्त होने लगता है। पहले हम सुख के लिए इधर-उधर भटकते थे, अब अनुभव होता है कि सुख अपने भीतर ही है। यह भटकाव केवल मन और इन्द्रियों के चंचल होने के कारण था, जो अब खत्म हो जाता है। यह मोक्ष की स्थिति ही जीवन का लक्ष्य है। अपने स्वरूप में स्थिति, आत्म-साक्षात्कार, आत्मानुभूति,

निजानन्द की उपलब्धि आदि वाक्यांश उसी स्थिति को सूचित करते हैं।

तो, हमने कहा कि धर्म, अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हमने स्वीकार किये हैं। अर्थ और काम जीवन के लिए अनिवार्य तो हैं, पर इनका समुचित लाभ प्राप्त करने के लिए इन पर धर्म का अंकुश लगाना होगा। इससे हम जीवन के लक्ष्य--मोक्ष--को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे। यह संक्षेप में वह जीवन-प्रणाली है, जिसे हिन्दू शास्त्रों ने हमारे सामने रखा है। अब प्रश्न उठता है कि अर्थ और काम की इन प्रवृत्तियों पर धर्म का अंकुश कैसे लगाया जाय, अर्थ और काम की इन धाराओं को धर्म के द्वारा कैसे बाँधा जाय? जिस उपाय से यह कार्य साधा जाता है, उसे गीता ने स्वधर्म-पालन कहकर पुकारा है। स्वधर्म की बात गीता में कई स्थानों पर प्राप्त होती है, पर वह सबसे पहले इस विवेच्य श्लोक में आयी है, जिसकी विस्तृत मीमांसा हम अपनी अगली चर्चा में करेंगे।

प्रश्न—शक्तिपात का सिद्धान्त क्या है? क्या वह विश्वसनीय

है ? मेरे एक परिचित हैं, जो अपने गुरु से अपने में शक्तिपात का दावा करते हैं, पर उनके चरित्र को देखने पर धर्म का विरोधाभास मालूम पड़ता है। यह कैसे ?

—प्रबोध चन्द्र श्रीवास्तव, भोपाल

उत्तर—शक्तिपात का सिद्धान्त, संक्षेप में, यह है कि गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्ति का संचार शिष्य में कर देता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि गुरु मंत्र प्रदान करते समय शिष्य में अपनी कुछ शक्ति भी संचारित करता है। सिद्धान्तः यह बात ठीक होते हुए भी व्यवहार में इसकी सत्यता का दर्शन विरल ही होता है। दावा करनेवाले लोग तो अनेक होते हैं, पर यथार्थ में जिनका जीवन सुधरा हो, ऐसे लोग अत्यल्प ही होते हैं। इसमें चार प्रकार की जोड़ियाँ गुरु-शिष्य की हो सकती हैं—(१) गुरु अच्छे उच्च साधक हैं और शिष्य भी उत्तम है, (२) गुरु तो अच्छे हैं, पर शिष्य योग्य नहीं है, (३) गुरु पहुँचे हुए नहीं, पर शिष्य अच्छा साधक है, (४) गुरु और शिष्य दोनों ही अत्यन्त साधारण हैं। जो पहली जोड़ी है, उसमें शक्तिपात का सिद्धान्त सही अर्थों में लागू होता है। श्रीरामकृष्ण देव ऐसे ही गुरु थे, जो छूकर, यहाँ तक कि निहारकर, आध्यात्मिक शक्ति का संचार शिष्य में कर देते थे। इससे गुरु और शिष्य दोनों धन्यता का अनुभव करते हैं। शिष्य में ग्रहण करने की पात्रता देखकर ही गुरु उसमें शक्ति का संचार करते हैं। दूसरी जोड़ी वह है, जहाँ शिष्य अपात्र है, तथापि गुरु उसमें शक्ति का संचार करते हैं। इससे शक्ति का अपव्यय होता है। शिष्य अपात्र होने के कारण उस शक्ति को धारण नहीं कर पाता और उसका निम्न जीवन इस शक्ति-संचार से उभर आता है। फलस्वरूप, वह या तो चारित्रिक दृष्टि से पतित हो जाता है अथवा बुद्धिविकार से ग्रस्त हो जाता है। अपात्र शिष्य में शक्ति संचारित करने के कारण गुरु की शक्ति का भी ह्रास

होता है और कभी कभी इसका अत्यन्त अवांछनीय परिणाम गुरु पर पड़ जाता है। जो तीसरी जोड़ी है, वहाँ शिष्य तो पात्र है, पर गुरु के पास वस्तुत: देने के लिए कुछ नहीं है। ऐसी दशा में शिष्य जिस धन्यता का अनुभव करता है, वह मात्र अपने श्रद्धा-बल के कारण। उसकी श्रद्धा ही उसे ऊपर उठाती है, गुरु तो केवल एक निमित्त होता है। यहाँ शक्तिपात का सिद्धान्त लागू नहीं होता। चौथी जोड़ी में शक्तिपात का मात्र ढोंग होता है। वहाँ आध्यात्मिकता का कोई सम्बन्ध नहीं होता; वह केवल एक वैयक्तिक धरातल है, जिस पर गुरु-शिष्य दोनों मिलते हैं। आज संसार में चौथी जोड़ी की ही बहुलता है। और चूँकि असत्य भी सत्य का ही नाम लेकर चलता है, इसलिए शक्तिपात के सिद्धान्त पर आज असत्य और ढोंग की अनेक दुकानें चल रही हैं।

श्रीरामकृष्ण इस सम्बन्ध में कितने सजग थे, यह निम्नोक्त दृष्टान्त से प्रतीत होता है। जब नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) को साधना के फलस्वरूप ऐसा लगा कि वे दूसरे में शक्ति-संचार कर सकते हैं और जब इसका परीक्षण उन्होंने अपने एक गुरुभाई कालीप्रसाद (स्वामी अभेदानन्द) पर किया, तो श्रीरामकृष्ण को बात मालूम पड़ने पर उन्होंने नरेन्द्र को धिक्कारा और कहा कि 'अभी कमाई हुई नहीं कि खर्च शुरू कर दिया!' यह भी कहा कि 'अपना भाव काली में संचारित कर तूने उसकी हानि ही की है।' इस घटना से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि जब तक व्यक्ति स्वयं पर्याप्त अर्जित न कर ले, तब तक शक्तिपात उसकी स्वयं की हानि करेगा और दूसरा यह कि जब तक वह इतना समर्थ नहीं है कि शिष्य के मनोभाव को समझ ले, तब तक शक्तिपात शिष्य का अमंगल ही करेगा। समर्थ गुरु ही शिष्य के भाव के अनुरूप उसमें शक्ति-संचार कर सकता है।

अकाल सेवा कार्य

(३१ मई, १९७९ तक की रपट)

अकाल सेवा कार्य के अन्तर्गत आश्रम ने पेयजल की समस्या-वाले गाँवों में एक-एक पक्का कुआँ निर्माण करके देने का संकल्प लिया है, इसकी सूचना हम पूर्व में दे चुके हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि कुएँ हरिजन-आदिवासी मुहल्लों में हों। अभी तक ३६ गाँवों को कुएँ बनाकर दिये गये हैं, जो निम्नलिखित हैं—

रायपुर तहसील में—१० कुएँ

(१) सड्ढू (२) आमासिवनी (३) कचना (४) पिरदा (५) छपोरा (६) छेरीखेढ़ी (७) दोंदेकला (८) बरोदा (९) माँढर (१०) लालपुर।

धमतरी तहसील में—१६ कुएँ

(१) गेंदरा (२) गट्टासिल्ली (३) उमरगाँव (४) घोटगाँव (५) गड़ियाभाठा (६) खुदुरपाली (७) पाइकभाठा (८) घोड़ावर (९) देवपुर (१०) कसपुर (११) कँवरटोला (कसपुर) (१२) सेमरा (१३) तुमड़ीबहार (१४) बनियाडीह (१५) अमलीडीह (१६) छूही।

दुर्ग तहसील में—१० कुएँ

(१) घुघुआ (२) गभरा (३) अमेरी (४) अमलीडीह (५) पन्दर (६) चंगोरी (७) सोरम (८) रेंगाकठेरा (९) असोगा (१०) कुकदा।

इन समस्त कुओं पर लगभग दो लाख रुपये व्यय किये जा रहे हैं। इनका निर्माण-कार्य जून १९७९ के अन्त तक पूर्ण हो जायगा। कुओं पर हुए व्यय को मिलाकर आश्रम द्वारा राहत कार्यों में व्यय की गयी कुल राशि १० लाख रु. तक पहुँच जायगी।

Regd. No. RYP-HO-15/76

श्रीरामकृष्ण उवाच

ज्ञानी के भीतर एकसमान गंगा बहती रहती है। उसके लिए तो सब स्वप्नवत् है। वह सदैव स्वस्वरूप में लीन रहता है। भक्त के भीतर एकसमान नहीं, वहाँ ज्वार-भाटा होता है। हँसता है, रोता है, नाचता है, गाता है। भक्त उन (भगवान्) के साथ विलास करना पसन्द करता है—कभी तैरता है, कभी डूबता है, कभी उतराता है,—जैसे पानी के भीतर बर्फ डूबती उतराती रहती है।

ज्ञानी ब्रह्म को जानना चाहता है। भक्त के तो भगवान् हैं—षडैश्वर्यपूर्ण सर्वशक्तिमान भगवान्। पर, वस्तुतः ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं—जो सच्चिदानन्द हैं, वे ही सच्चिदानन्दमयी हैं। जैसे मणि की ज्योति और मणि। मणि की ज्योति कहने से ही मणि का तात्पर्य होता है और मणि कहने से ही ज्योति का। मणि को सोचे बिना मणि की ज्योति की बात नहीं सोची जा सकती और मणि की ज्योति को सोचे बिना मणि की बात नहीं।

एक सच्चिदानन्द शक्ति के तारतम्य से अनेक उपाधियों वाला हो जाता है। इसीलिए बहुरूपता है—'तुम्हीं वही सब हो माँ तारा!' जहाँ कार्य (सृष्टि, स्थिति, प्रलय) है, वहीं शक्ति है। पर पानी स्थिर रहने पर भी पानी है, और तरंग, बुलबुला होने पर भी पानी है। वह सच्चिदानन्द ही आद्यशक्ति है, जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय करती है। जैसे, कप्तान जब कोई काम नहीं करते, तब जो हैं, जब कप्तान पूजा करते हैं, तब भी वही हैं, और जब कप्तान लाट साहब के पास जा रहे हैं, तब भी वह ही हैं; केवल उपाधि का अन्तर है।

—१९ अगस्त, १८८३